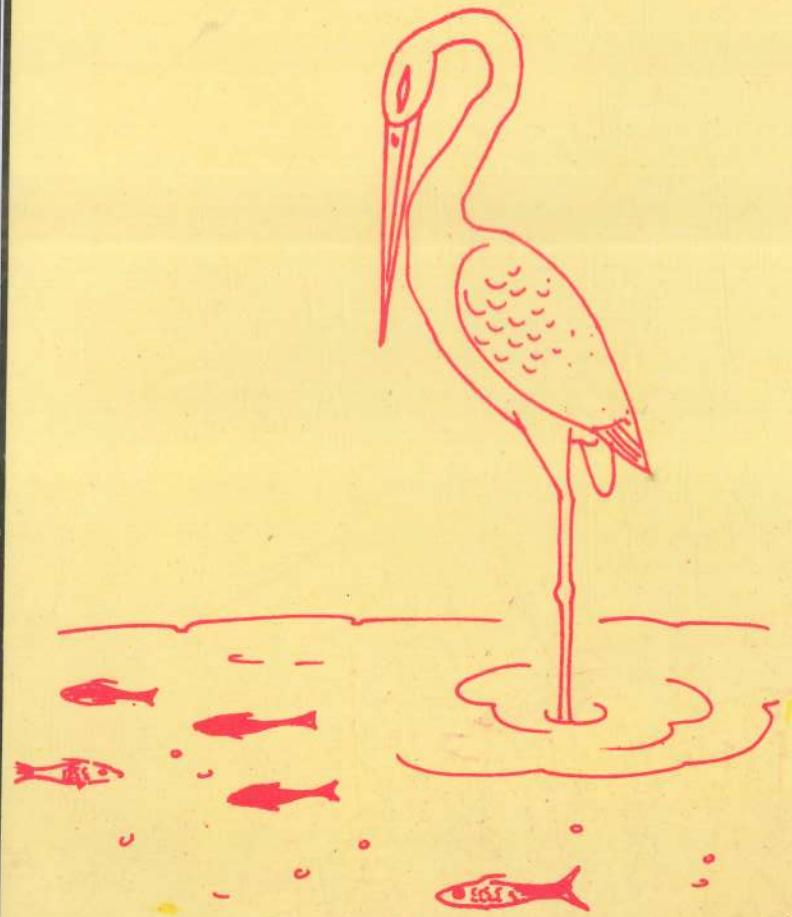
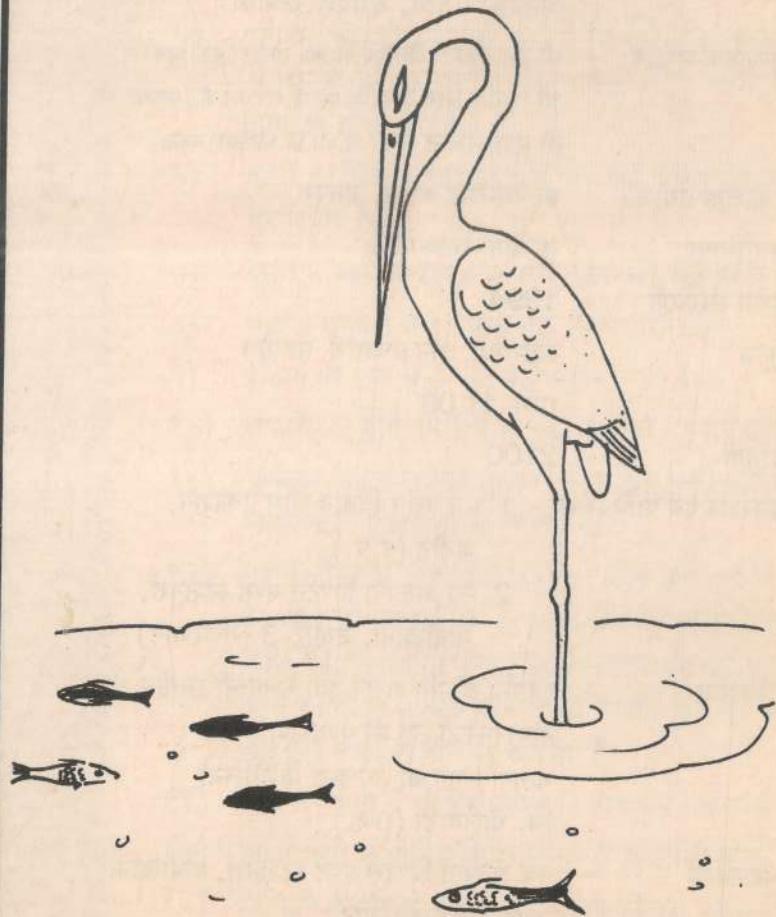


ये कैसे धर्मात्मा - निव्यसनी -  
राष्ट्रसेवी...!?



समीक्षक - उपाध्याय कनक नंदी

ये कैसे धर्मात्मा - निर्व्यसनी -  
राष्ट्रसेवी...!?



समीक्षक - उपाध्याय कनक नंदी

## समीक्षक-उपाध्याय कनकनंदी

‘धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ग्रन्थांक-७३

ये कैसे धर्मात्मा- निर्व्यसनी- राष्ट्रसेवी.....?

समीक्षक	- उपा. श्री कनकनंदी जी गुरुदेव।
सहयोगी	- मुनि श्री कुमार विद्यानन्दी, मुनिश्री गुप्तिनंदी, आर्यिका राजश्री, आर्यिका क्षमाश्री
सम्पादक मण्डल	- श्री प्रभातकुमार जैन(एम.एस.सी. रासायन प्रवक्ता)मुजफ्फर नगर। श्री रघुवीर सिंह जैन (एम.एस.सी.एल.एल.बी.)मुजफ्फर नगर श्री सुशीलचन्द जैन (एम.एस.सी. भौतिकी) बड़ौत।
प्रकाशक संयोजन	- श्री नेमीचन्द काला, जयपुर।
सर्वाधिकार	- सुरक्षित लेखकाधीन।
प्रथम संस्करण	- 1994
मूल्य	- स्वाध्याय, ज्ञान प्रचारार्थ सहयोग राशि 11.00
प्रतियाँ	- 2100
प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान	- 1. धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, बड़ौत (उ.प्र.) 2. नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर-3 (राजस्थान)
द्रव्यदाता	- स्वर्गीय श्रीमति कंचन देवी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्री नाथूलालजी ठग की पुण्य-स्मृति में भवानी लाल जी ठग द्वारा बिजौलियाँ जि. भीलवाडा (राज.)
मुद्रणकार्य	- नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना जयपुर- 3 (राजस्थान)

## मेरे चिन्तन-बिन्दु

- १) दूसरों को आदर्श बनाने के पहले स्वयं को आदर्श बनाना श्रेष्ठ है।
- २) स्वार्थ के लिये परोपकार करने से श्रेष्ठ दूसरों का अपकार नहीं करना।
- ३) परोपकार नहीं कर पाना अपराध नहीं है, परन्तु परोपकार के बहाने स्वार्थ की सिद्धि करना अपराध है।
- ४) दान नहीं देने से भी महापाप दान के लिये अन्याय करना, शोषण करना तथा असत् उद्देश्य से दान देना।
- ५) भगवान् की आराधना नहीं करने से भी महापराध भगवान के उपदेश से विपरीत चलना, पूजा में विघ्न डालना, पूजा को निमित्त करके भाव को दूषित करना।
- ६) दूसरों का विकास नहीं कर पाना पाप नहीं, परन्तु विकास में बाधक बनना पाप है।
- ७) दूसरों से आगे अवश्य बढ़ो परन्तु दूसरों को पीछे हटाकर नहीं।
- ८) भक्त से भगवान् बनो, परन्तु भक्त से भिखारी नहीं।
- ९) प्रतिमा की पूजा से भी श्रेष्ठ प्रतिभावन बनना है।
- १०) भगवान् की मूर्ति बनाने से भी श्रेष्ठ भव्य को भगवान् बनाना है।
- ११) ‘सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय’ की भावना भानी चाहिये, केवल मानव मात्र के कल्याण की भावना नहीं।
- १२) महान् उद्देश्य के लिए पवित्र भावना से कार्य करते हुए जो पाप होता है, जीवों को कष्ट पहुँचता है, जीवों की हिंसा होती है वह इतना गर्हित नहीं है, जितना गर्हित अपवित्र भावना से, क्षुद्र उद्देश्य से कार्य करते हुए दूसरों को कष्ट नहीं पहुँचने पर भी, जीव वध नहीं होने पर भी, द्रव्य पाप नहीं होने पर भी होता है।
- १३) बुद्धिमान बनने से भी श्रेष्ठ प्रज्ञावान/ विवेकवान बनना है।
- १४) साक्षर बनने से भी श्रेष्ठ शिक्षित/ सभ्य/ सदाचारी बनना है।
- १५) मेरी मति सन्मति हो इसकी अनिवार्यता स्वीकार करता हूँ, परन्तु दूसरों की सहमति हो ही इसकी अनिवार्यता नहीं।

- १६) कर्तव्य भाव से कर्तव्यशील बनना श्रेष्ठ है।
- १७) अधिकार से महान् कर्तव्य पालन है।
- १८) परशोषक नहीं आत्मपोषक बनो।
- १९) चर्या में परिवर्तन के लिये चिंतन में परिवर्तन करो।
- २०) पापोदय से विघ्न/ प्रतिबंधक/ उपसर्ग आते हैं, परन्तु आगत विघ्न को विघ्नसं करने वाला महान् बन जाता है।
- २१) अधिक आयुवाला अधिकारी, सत्तावान, शिक्षावान से भी श्रेष्ठ विवेकवान, सदाचारी, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति है।
- २२) दण्ड का भागी वह है जो दण्ड के भय से क्षुद्रता, रुद्धि, अंधपरम्परा, अन्याय- असत्य, पाप का त्याग नहीं करता है।
- २३) ‘पूर्व-पूर्व’ के आचरण अज्ञान पूर्ण’ तब प्रतिभासित होते हैं, जब आगे से आगे विवेक ज्योति अधिक से अधिक प्रखर होती जाती है।
- २४) जो-जो सद्भावनायें नहीं भायी गई हैं, उन-उन भावनाओं को भाओ।
- २५) सविनम्र सत्यग्राही बनो, परन्तु उदण्ड हठग्राही नहीं।
- २६) शोध के पहले बोध करो।
- २७) नकल भी अकल से करो।
- २८) अन्याय से उपार्जित शाकाहार एवं अमर्यादित शाकाहार भोजन भी मांसाहार के समान है।
- २९) हिंसात्मक वस्तुओं का व्यापार एवं उनका प्रयोग करने वाला भी मांसाहारी के समान है।
- ३०) मद्य, मांस, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, नशीली वस्तु, चर्म निर्मित वस्तु, हिंसात्मक प्रसाधन सामग्री, अभक्ष वस्तु निर्माण करने वाला, व्यापार करने वाला, दूसरों को देने वाला भी व्यसनी, हिंसक, पापी, अन्यायी है।
- ३१) जितने अंश में आप स्वयं सत्य, न्याय, सदाचार का आचरण करते हो अधिक से अधिक आप दूसरों को भी उतने ही अंश में उपदेश करने के योग्य हो सकते हो उससे अधिक नहीं।

- ३२) निषिद्ध, पापात्मक वस्तु, कार्य, आचरण, भोजनादि का प्रयोग स्वयं करने पर जितना पाप बन्ध होता है उससे भी अधिक पाप बन्ध दूसरों से करने से हो सकता है। जैसे स्वयं विष पान करके स्वयं अकेले को मार सकता है, परन्तु विष पान करने से अनेकों को मार सकता है।
- ३३) भोजन के पचने से जैसे सार तत्व मिलता है, वैसे अध्ययन (शास्त्र ज्ञान) को अनुभव में लाकर आचरण करने से ज्ञान का रस मिलता है।
- ३४) भोजन का अपच जैसे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, वैसे ही श्रद्धा हीन, विवेक-रहित, आचरण-शून्य ज्ञान हानिकारक है।
- ३५) विश्वास सहित, आचरण से युक्त शास्त्र (ज्ञान) कर्म काटने के लिए शास्त्र के समान है तो विश्वास रहित आचरण शून्य शास्त्र (ज्ञान) स्वपर को हनन करने के लिए शास्त्र के समान है।
- ३६) अन्याय उपार्जित धन का प्रयोग धर्म में करने से धर्म की भी हानि होती है।
- ३७) विधर्मियों एवं विरोधियों के अविरोध गुणों को स्वीकार करना ही अनेकान्त एवं स्याद्वाद है।
- ३८) अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सबसे अधिक आवश्यक कार्य को पहले करने वाला व्यक्ति ही प्रतिभावान, कार्यकुशल एवं सफल व्यक्ति है।
- ३९) जिस महान् कार्य को करने के लिये अभी आप के पास शक्ति एवं परिस्थिति नहीं है तो उस कार्य की उपेक्षा न करके भावना भाओ जिससे शक्ति एवं परिस्थिति आप को अवश्य मिलेगी।
- ४०) प्रत्येक महान् कार्य का शुभारम्भ छोटे आकार से होता है।
- ४१) अपना आदर्श कर्तव्य को करने में जो भय, शर्म, प्रमाद करता है, वह कभी भी महान् एवं सफल व्यक्ति नहीं बन सकता है।
- ४२) जो (१) सत्य (२) अहिंसा (३) अचौर्य (४) अपरिग्रह (५) ब्रह्म चर्य का पालन करता है, उसके लिये अन्य नीति या कानून की आवश्यकता नहीं।
- ४३) अविश्वासी बनना विकास में बाधक है तो सत्य-तथ्य का निर्णय किये बिना विश्वास करना विनाश का कारण है।

- ४४) जब तक जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती तब तक उसे प्रमाण मत मानो।
- ४५) आनुषंगिक हिंसा से भी महापाप कायरता है।
- ४६) केवल बाह्य आकार-प्रकार- क्रियाओं से किसी का भी पूर्ण मूल्यांकन करना मानो काँच को हीरा मानना है।
- ४७) कानों के छेद प्राकृतिक रूप से खुले हैं इस कारण किसी की भी बात कान में प्रवेश कर ली तो कोई बड़ी भूल नहीं है, परन्तु उसे विवेक रूपी द्वारा से ही हृदय में प्रवेश नहीं दिलाना बड़ी भूल है।
- ४८) वह अहिंसा, अहिंसा है, जहाँ निर्भयता है, वह निर्भयता, निर्भयता है जहाँ नम्रता है, वह नम्रता, नम्रता है, जहाँ स्वार्थ न हो, वह निस्वार्थ, निस्वार्थ है, जहाँ परमार्थ हो।
- ४९) हिंसा से भी गर्हित पाप अहंकार (मद) है। क्योंकि आनुषंगिक हिंसक धर्मात्मा हो सकता है, परन्तु मद करने वाला धार्मिक नहीं हो सकता है।
- ५०) खोटे भाव से सत्य कहना भी असत्य है।
- ५१) उद्देश्यहीन अधिक गमन भी भटकाव है, परन्तु सोदेश्य थोड़ा सा भी गमन लक्ष्य की दूरी को कम करता है।
- ५२) कर्तव्य से हीन होकर अधिकार को प्राप्त करना मानो डाका डालना है।
- ५३) महानता वोटों की संख्या से नहीं, गुणों की संख्या से आंती है।
- ५४) इतिहास, महान् व्यक्ति का निर्माण नहीं करता है, परन्तु महान् व्यक्ति से इतिहास का निर्माण होता है।
- ५५) भ्रष्टाचार से दूर रहने से आत्मरक्षा होती है न कि बुलेट प्रूफ, सुरक्षा कर्मी से।
- ५६) सदाचारी, सदोदेश्यवान् ही पूजनीय, महान्, आदर्श, विश्वसनीय बनता है न केवल सत्तावान।
- ५७) दशा (परिस्थिति) एवं दिशा (उद्देश्य) के अनुसार ही गुण-दोषों का निर्णय होता है।

- ५८) समस्या में ही समाधान रहता है, अतः समस्या का सामना जो विवेक एवं दृढ़तापूर्वक करता है, वह सफल हो जाता है और जो पलायन वादी बनता है वह असफल बनता है।
- ५९) समस्या का सामना करने के संकल्प से ही समस्या ही समस्या में पड़ जाती है, परन्तु समस्या से भयभीत होने से समस्या और भी भयंकर हो जाती है।
- ६०) निन्दा कड़वा विष है, तो प्रशंसा मधुर विष है, परन्तु समीक्षा अमृत सम है।
- ६१) दुनिया झुकती है झुकाने वाला चाहिए। सुगन्धि फैलती है सुगन्धित पुष्प खिलना चाहिए॥
- ६२) स्वभावानुसार मधुप मधु चाहता है तो- जोंक दूषित रक्त चाहता है, जो आपकी चाह है, वह ही आप हैं।
- ६३) प्रतिशोध नहीं परिशोधन करो।
- ६४) परावलम्बी कार्यारम्भ ही नहीं कर पाता है।
- ६५) अज्ञानी जीव आनुषंगिक हिंसा को रोकने के लिए संकल्पी हिंसा तक करके स्वयं को अहिंसक मानते हैं।
- ६६) रागी जीव आध्यात्मिकता की आड़ (परदा, बहाने, पीछे) में अधिक राग करता है, तो भोगी अधिक भोग करता है तो लोभी अधिक से अधिक संग्रह करता है, आलसी, अधिक आलसी, प्रमादी बन जाता है।

उपाध्याय कनकनंदी

## महापुरुषों के अमर सन्देश

१. हे भव्य!

जो जीव को जिनवर (भगवान) एवं जिनवर को जीव मानते हुये  
साम्यभाव में रहता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।  
जीव जिणवर जे मुण्हि, जिणवर जीव मुण्हि।  
ते सम-भाव परटिया, लहु णिव्वाण लहुहि॥

भगवान महावीर

२. हे भन्ते!

जीवों का वध करना, आत्मा का (स्वयं का) ही वध करना है, जीवों  
के प्रति दया / मैत्री / करुणा करना स्वयं के प्रति ही दया / मैत्री /  
करुणा करना है।

उट्टानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकाइनो।  
सञ्जतस्य च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्य यसोभिवद्धति  
(धम्मपद इलो० ४ पृ ८)

जो उद्योगी, सचेत, शुचि- कर्मवाला, सोचकर काम करने वाला है,  
संयत धर्मानुसार जीविका वाला एवं अप्रमादी है, उसका यश बढ़ता  
है।

महात्मा बुद्ध

३. हे खुदा के बन्दे! सबके साथ भातृ प्रेम (भाईचारा) करो, इससे  
अल्लाह तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होंगे और तुम्हें स्वर्ग (जन्नत) देंगे।

पैशम्बर मोहम्मद

४. मानव की सेवा ही भगवान् की सेवा है, अतः हर दीन-हीन रोगी  
मानव की सेवा करो, यह ही धर्म के लिए द्वार स्वरूप है।

Serve to humanity is serve to God

ईसा मसीह

५. अष्टादशा पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम्।

परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥

महर्षि वेद व्यास

६. जो दूसरों को कष्ट देता है, वह कष्ट धीरे-धीरे स्वयं के ऊपर आ जाता  
है-

जो ओरेन का सिर काटे अपना रहे कटाय।

धीरे-धीरे नानका बदला कहीं न जाय॥ गुरु नानक

७. जो तुम्हें कष्ट देता है, उसे तुम सुख पहुँचाओ, क्योंकि उसके परिव-  
र्तन में तुम्हें सुख मिलेगा और उसे दुःख।  
जो तोकों कांटा बुर्वे, ताहि बोय तु फूल।  
तोहि फूल के फूल है, वाके हैं तिरसूल॥ सन्त कबीर

८. आत्मा, आत्मा का उद्धारक है अतः स्व आत्मा को मलीन नहीं  
करना चाहिये। फल की कामना बिना उत्तम कर्तव्य करो।

नारायण श्रीकृष्ण

९. सत्य, समता एवं सुख ही धर्म का सारतत्व है।उपाध्याय कनकनन्दी

१०. हमारी अपनी अज्ञानता का ज्ञान ही बुद्धिमत्ता के मन्दिर का स्वर्ण  
सोपान है।

स्पर्जन

११. उनके प्रति शोक प्रकट करो जो भले को बुरा और बुरा को भला  
समझते हैं।

बाइबल

१२. कभी कीचड़ मत उछालो। हो सकता है कि तुम अपने लक्ष्य से चूक  
जाओ, किंतु तुम्हारे हाथ तो गन्दे हो ही जाएँगे। जोनेफ पार्कर

१३. हमारा उद्देश्य संसार के प्रति भलाई करना है, अपने गुणों का गान  
करना नहीं।

विवेकानन्द

१४. सम्पूर्ण भलाई और श्रेष्ठता का किरीट है - बन्धुत्व की भावना।

एडविन मार्कहम

१५. जो व्यक्ति भलाई से प्रेरित होकर भलाई करता है, वह न तो प्रशंसा  
का आकांक्षी होता है, न पुरस्कार का, यद्यपि दोनों स्वतः ही उसे  
अन्त में प्राप्त हो जाते हैं।

विलियम ऐन

१६. भय सदैव अज्ञानता से उत्पन्न होता है।

इमर्सन

१७. जो पतितों और दुर्बलों के पक्ष में बोलते हुए भयभीत होते हैं, वे दास हैं।

लाबेल

## समीक्षक की विचार-धारा

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित दीपक स्वयं प्रकाशित होता है और अंधकार को दूर करके दूसरों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जो महान् क्रांतिकारी व्यक्ति होते हैं, वे स्वयं आदर्श बनते हैं और विश्व में व्याप पाप रूपी अंधकार को दूर करके दूसरों को भी रोशनी देते हैं। दीपक जिस प्रकार अंधकार को दूर हटाते हुए भी अंधकार के प्रति द्वेष नहीं करता, धृणा नहीं करता या अंधकार के विरोध की भी परवाह नहीं करता, उसी प्रकार महान् व्यक्ति पापियों से धृणा नहीं करते हैं, द्वेष नहीं करते हैं या पापियों के विरोध की भी परवाह नहीं करके पापियों के चित्त में स्थित पाप रूपी अंधकार को दूर करते हैं। क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश का स्वभाव ही अंधकार को दूर करना है, उसी प्रकार सज्जनों का स्वभाव स्व को प्रकाशित करते हुए पर के पापों को दूर करके उन्हें आदर्श के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना है। ऐसे व्यक्ति हृदय से मक्खन से भी कोमल होते हैं पर ऊपर से वज्र से भी कठोर होते हैं। महान् व्यक्ति नारियल की तरह ऊपर से रुखे, कठोर होते हैं और अंदर से कोमल, रसदार और शीतल होते हैं। उनकी नीति होती है ‘‘मेरी मति सन्मति हो दूसरों की सहमति हो या नहीं हो’’ अर्थात् वे सत्य, न्याय, निष्पक्ष के पथ पर आगे ही आगे बढ़ते चलते हैं, दूसरों की प्रशंसा, ख्याति, लाभ की परवाह नहीं करते हैं। भरुहरि ने भी कहा है-

निन्दतुं नीति निपुणा यदि वा स्तवन्तु  
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।  
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा  
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा: ११८४।

पृ.नं. ११३

नीति निपुण विद्वान् निंदा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा पास की भी चली जाय, आज ही मृत्यु हो अथवा एक युग बाद परन्तु गंभीर पुरुष न्याय मार्ग से च्युत नहीं होते।

जिस प्रकार एक विवेकी-दयालु-विज्ञ-अनुभव-शील वैद्य रोगी के रोग दूर करने के लिए उसे (रोगी को) यथा योग्य कड़वी औषधि देता है, उपवास

करवाता है, पथ्य सेवन करना और अपथ्य का त्याग करने के लिए कहता है, भले अविवेकी अनुभवहीन रोगी को इससे कष्ट भी अनुभव हो या रोगी, वैद्य का विरोध भी करें तो भी दयालु विवेकी वैद्य उस रोगी के विरोध की परवाह न करके उसके हितार्थ के ही कार्य करता है। इसी प्रकार पाप रूपी रोग से ग्रसित अज्ञानी रोगियों को भव रोग नाशक, ज्ञानवान्, अनुभवशील, दयालु और आगमज्ञ गुरु उसे योग्य उपदेश रूपी सलाह देते हैं, अकरणीय अपथ्य का त्याग करवाते हैं, सत्य, न्याय, दयादि रूप पथ्य खिलाते हैं। तथापि कुछ दूर-संसारी, अज्ञानी, अविवेकी व्यक्ति ऐसे महान् उपकारी भव-रोग विनाशक वैद्य को ही शत्रु मानकर उनका ही विरोध करते हैं। तथापि जिस प्रकार विवेकी, दयालु-माता अबोध बच्चों के विरोध से भी घबराकर भी उन बच्चों को अन्याय मार्ग से रोकने से परांगमुख नहीं होती है उसी प्रकार माता से भी महान उपकारी गुरु अबोध-शिष्यों की परवाह न करके उन्हें उचित मार्ग में आगे बढ़ने को प्रेरित करते हैं, क्योंकि गुरु दूरदृष्ट होते हैं, वे दूरगामी परिणाम को जानते हैं और अपने अन्तरंग परिणाम को भी जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि मेरा कोई सुने या न सुने, माने या न माने, अनुकरण करें या न करें फिर भी मेरी उपकार की भावना से मेरा ही कल्याण होता है। सच्चे गुरु कभी भी ‘विषकुम्भ पयोमुख’ (मुँह में राम बगल में छुरी) वाले नहीं होते हैं। वे केवल लोक संग्रह के लिए लोगों के वाह-वाही को लुटने के लिए भाट, वंदीजन, बहुरुपियों के जैसे- जोकर की तरह व्यवहार नहीं करते हैं। ऐसे गुरु यथार्थ से गुरु हैं या यथार्थ हिताकांक्षी हैं। ‘आत्मानुशासन’ में भी सहवद्य, दूरगामी, परिणामज्ञ, गुरुओं की प्रशंसा निम्न प्रकार से की गई है।

यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित्।  
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात्। (३)

(पृ.नं. ३)

यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादित किया जाने वाला कुछ सम्बन्धनादि का उपदेश कदाचित् सुनने में अथवा आचरण के समय में थोड़ा सा कड़वा (दुःखदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाम में मधुर (हितकारक) ही होगा। इसलिए हे आत्मन्! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कड़वी) औषधि से नहीं डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नहीं।

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः।

दुर्लभा हृन्तरार्द्धस्ते जगदभ्युजिन्हीर्षवः॥(४)

जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है, ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते हैं। किन्तु जो भीतर से आर्द्र (दयातु और जल से पूर्ण) होकर जगत् का उद्धार करना चाहते हैं, ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनोंहीं दुर्लभ हैं।

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं।

साधां तैः सहसा मियेद्यदि गुरुः पश्चात्कर्णोत्येष किम्॥

तस्मान्मे न गुरुगुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूङ्च स्फुटं।

ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सदगुरु॥(४९)

यदि यह गुरु शिष्य के उन किन्हीं दोषों को प्रवृत्ति कराने की इच्छा से अथवा अज्ञानता से आच्छादित करके- प्रकाशित न करके- चलता है और इस बीच में यदि वह शिष्य उक्त दोषों के साथ मरण को प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरु पीछे क्या कर सकता है? कुछ भी उसका भला नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषों को आच्छादित करने वाला वह गुरु वास्तव में मेरा गुरु नहीं है। किन्तु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषों को निरन्तर सूक्ष्मता से देख करके और उन्हें अतिशय महान् बना करके स्पष्टता से कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है।

विकाशायन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।

रवेश्विवारविन्दस्य कठोरश्च गुरुक्तयः॥ (४२)

कठोर भी गुरु के वचन भव्य जीव के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित करते हैं जिस प्रकार कि सूर्य की कठोर किरणें भी कमल की कली को प्रफुल्लित किया करती हैं।

लोकदयहितं वकुं श्रोतुं च सुलभाःपुरा।

दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वकुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥ (४३)

पूर्व काल में जिस धर्म के आचरण से इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में हित होता है उस धर्म का व्याख्यान करने के लिये तथा उसे सुनने के लिये भी बहुत से जन सरलता से उपलब्ध होते थे, परन्तु तदनुकूल आचरण

करने के लिये उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे। किन्तु वर्तमान में तो उक्त धर्म का व्याख्यान करने के लिये और सुनने के लिये भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करने वाले तो दूर ही रहे।

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं

भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये।

कृतं किमपि धाष्टर्यतः स्तवनमप्यतीर्थेषितैः

न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्जानताः॥ (४४)

जो गुण और दोष का विचार करने वाले सज्जन हैं वे यदि कदाचित् किसी दोष को भी अतिशय प्रगट करते हैं तो वह बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये उत्तम उपदेश के समान अत्यन्त प्रीति का कारण होता है। परन्तु जो आगम ज्ञान से रहित हैं ऐसे अविवेकी जनों के द्वारा यदि धृष्टता से कुछ प्रशंसा भी की जाती है तो वह उन बुद्धिमान् मनुष्यों के मन को सन्तुष्ट नहीं करती है निश्चय से वह अज्ञानता ही दुःखदायक है।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।

यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ (४५)

जो अन्य कारणों की अपेक्षा न करके केवल गुण के कारण किसी वस्तु को ग्रहण करता है और दोष के कारण उसका परित्याग करता है वही विद्वानों में श्रेष्ठ गिना जाता है।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीदुश्खायसे भृशाम्।

विपर्यये तयोरेति त्वं सुखायिष्यसे सुधी॥ (४६)

हे भव्य! तू दुबुद्धि होकर जो सम्यादर्शन आदि तेरा हित करने वाले हैं उनको तो छोड़ता है और जो मिथ्यादर्शनादि तेरा अहित करने वाले हैं उनमें स्थित होता है। इस प्रकार से तू अपने आपको दुःखी करता है। तू विवेकी होकर इससे विपरीत प्रवृत्ति कर, अर्थात् अहितकारक मिथ्यादर्शनादि को छोड़कर हितकारक सम्यादर्शनादि को ग्रहण कर इस प्रकार से तू अपने को सुखी करेगा।

इमे दोषास्तेषां प्रभवनभमीश्यो नियमतः।

गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः।

त्यजंस्त्वाज्यान् हेवून् झटिति हितहेवून् प्रतिभजन्  
स विद्वान् सद्दतः स हि स हि निधिः सौख्यशासो॥ (१४७)

ये दोष हैं और इनकी उत्पत्ति नियमतः इनसे होती है, तथा ये गुण हैं और उनकी भी उत्पत्ति इनमें होती है, ऐसा निश्चय करके जो छोड़ने योग्य कारणों को छोड़ता है और हित के कारणों को स्वीकार करता है वह विद्वान् है, वही सम्यक् चरित्र से सम्पन्न है, और वही सुख एवं कीर्ति का घर भी है।

मैने (कनक नंदी) भी इस कृति में स्व पर उपकार के लिये विश्व में व्याप्त मूढ़ता, जड़ता, हठग्रहिता, अंधविश्वास, रुद्धिवाद, पंथवाद (सम्प्रदायवाद) को दूर करने के लिये तथा सत्य- न्याय, उदारता, सरलता, नम्रता, भद्रता, निष्पक्षता का प्रचार- प्रसार करने के लिये कुछ हितकारी कड़वी औषधि के समान कठोर सत्य वचन का प्रयोग किया है। परन्तु मेरा किसी के प्रति न द्वेष है न राग है। मैने जब अनुभव में पाया कि 'धर्म सर्वसुखा करो हितकरो' है अर्थात् धर्म "सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय" है परन्तु व्यवहारिक पक्ष में देखने पर धर्म के नाम पर या धर्म की आङ़ में कुछ धर्मान्ध व्यक्ति धर्म को ही कलंकित करते हैं। जब जीव संसार में अन्यत्र सुख प्राप्त नहीं करता है तो अन्ततोगत्वा सुख के अक्षय भण्डार स्वरूप धर्म की शरण में आता है, धर्म की छत्र छाया में आता है। परन्तु जब धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक जनों में व्याप्त विषमता, कटुता, हठग्रहिता को देखता है तो वह और भी अधिक हताश, बेसहाय हो जाता है तब धर्म से ही धृणा करने लगता है। इसी प्रकार जो समाज, राष्ट्रादि के रक्षक होते हैं वे ही अधिकांश भक्षक होते हैं। वे सेवादान के परिवर्तन में स्वयं की सेवा करवाते हैं, त्याग के बदले परिग्रह संचय करते हैं, एकता के नारे के बहाने विघटन करते हैं। ऐसे उपरोक्त धार्मिक एवं परोपकारी, राष्ट्र- सेवक व्यक्ति 'गोमुख व्याघ्र' की तरह होते हैं। जिस तरह 'गोमुख व्याघ्र' स्वयं को गाय सिद्ध करने के लिये, अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए अपने मुख में गाय का मुखौटा लगाकर गायादि अन्य जीवों का भक्षण करता है उसी प्रकार वैसे ही धर्म या परोपकार के बहाने धर्म ढोंगी धर्मात्मा व्यक्ति एवं दूसरों का ही भक्षण कर लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों की कटु आलोचना करते हुए दिग्म्बराचार्य महर्षि वासुपूज्य ने "दान शासन" में निम्न प्रकार से कहा है-

यो राजा वधकोऽनुतो धनहरोऽन्यस्त्रीहरस्सपृहः।  
संतस्तद्विषये श्रयंति न सदा नो विभसंतीहु तं॥  
तस्मै नो ददते धनादि च यथा तद्दद्गुणी धार्मिको।  
दाता दानफलान्यथा खलु तथा रत्नानि भाव्यानि च॥५॥

(पृ.नं.५)

जो राजा हिंसा करता हो, झूठ बोलता हो, परस्ती और परधन के हरण करने में आसक्त हो, लोभी हो, उस राजा के देश को सज्जन लोग आश्रय नहीं करते हैं और न कोई उसका विश्वास करते हैं और उसे धनादिक से सत्कार भी नहीं करते हैं। इसी प्रकार धार्मिक कहलाने वाले दानी मन, वचन, काय की शुद्धि से रहित होकर हिंसादिक क्रिया में प्रवृत्त होवें तो उन्हें दान का कोई फल नहीं मिल सकता है, अपितु उसका ऐश्वर्य पाप के कारण दिन-प्रतिदिन घटता ही जाता है।

जो राजा सत्य, न्याय एवं नीति के अनुसार प्रजाओं की सुरक्षा के लिए दुष्टों को यदि न्यायोचित दण्ड नहीं देता है तो वह राजा एवं राष्ट्र नष्ट हो जायेगा, जैसे वैद्य रोगी का उचित रूप से निदान नहीं करता है तो वह योग्य वैद्य नहीं है और उससे मरीज का रोग ठीक नहीं हो सकता। वेद व्यास ने महाभारत में अन्यायी, प्रजा के अरक्षक राजा के बारे में निम्न प्रकार से कहा है-

कोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद्विद्यन्ते तरसा शित्रयः।  
कोशतां पति पुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति।

जिस राष्ट्र में प्रजाओं का शोषण होता है, प्रजाओं को कष्ट दिया जाता है और रोती बिलखती स्त्रियों का अपहरण होता है, पति एवं पुत्रों को कष्ट मिलता है, वह राजा जीवित नहीं, चलता फिरता शब है।

कालं लक्ष्वापि येनाहो रक्षोपाया अनाद्दताः।  
सर्वे पथुं एणो पश्येत् स्वं स्तब्धो द्वृतपातितम्॥

अन्यायी राजा के राज्य में जहाँ पर प्रजाओं की रक्षा के उपाय नहीं हैं, समय पर योग्य वृष्टि नहीं होती है, अनावृष्टि, अतिवृष्टि होती है। वहाँ गायों के थन सूख जायेगे और सब विद्या भूल जायेगे।

अरक्षितार्द्ध हुतरिं विलोप्ताराम नायकम्।  
तं वै राजकलिं....।

जो राजा प्रजाओं की रक्षा नहीं करता, उनका धन शोषण करता है, नेतृत्व विहीन है, वह राजा नहीं, बल्कि कलि है।

दान निष्काम भाव से स्व न्यायोपार्जित धन से करना चाहिए, यदि दान करते हुए भी किसी लौकिक सिद्धि की कामना है तो वह व्यापार है, या भिक्षावृत्ति है। ऐसे दान से न आत्मकल्याण है न मोक्ष मिलता है

“रयणसार” में कहा भी है-

जतं मंतं तंतं परिचर्तिं पक्खवाय पियवभणं।

पङ्ग्वपंचमयालभरहेदाण्णिंपि मोक्खस्स ॥२१॥

(पृ. १२)

यंत्र, मंत्र, तंत्र प्रति उपकार पक्षपात से मीठे व मृदु वचनों के लिए इस भरत क्षेत्र पंचम काल में प्रतीति कुछ भी दान दिया गया मोक्ष के लिए नहीं है।

इसी प्रकार वर्तमान पंचमकाल में दान के समान अन्य धार्मिक क्रियाओं में भी धर्म का प्राण नहीं करता है, केवल शरीर रहता है, अर्थात् (धर्म की पवित्रता) उदारता, महानता नहीं रहती है, बल्कि धर्म का आडम्बर रहता है। कुंद-कुंद देव ने रयणसार में कहा भी है-

सम्मविसोही तव गुण चारित्त सण्णाणदाणपरिहीणं।

भरहेदुस्समकाले मण्याणं जायदे पियद ॥३७॥

(पृ. १०९)

इस दुखमाकाल भरत क्षेत्र में मानवों के निश्चय निरन्तर विशुद्ध सम्यक्त्व सहित तप मूलगुण और चारित्र सम्यक्ज्ञान दानादि शुभ कार्यों में हीनता होती हैं।

जो केवल देखा हुआ, सुना हुआ विषय को बताता है- वह पूर्ण सत्य नहीं है- पूर्ण सत्य वह है, जिससे स्वपर उपकार होता है। स्वपर उपकार से रहित कण्ठिय, शुद्ध साहित्यिक भाषा से कहा गया वचन भी असत्य है। जिस प्रकार हितकारी गुरु के आवश्यकता अनुसार कहा गया कटुवचन सत्य है, किन्तु धूर्त, वेश्या, ठग, चोर आदि के मधुर वचन भी असत्य हैं। इस विश्व में अभी तक कोई ऐसे महापुरुष नहीं हुए हैं या आगे भी नहीं होंगे, जिनके सम्पूर्ण वचन को सम्पूर्ण प्राणियों ने स्वीकार किया हो। इसलिए जो नीतिकारों

ने कहा है- ‘हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः’ अर्थात् हितकर एवं मनोहर वचन दुर्लभ होता है। तथापि सज्जनों को सत्य, हितकर वचन तो बोलना ही चाहिए तथा सभ्य, मधुर, शालीन वचन भी बोलना चाहिए परन्तु ऐसे वचन बोलते हुए भी कभी-कभी दुर्जन व्यक्तियों को कटु लगे तो परवाह नहीं करना चाहिए क्योंकि जैसे सूर्योदय होने पर उल्लू को दिखाई नहीं देता है, वेश्या को शील (ब्रह्मचर्य) का उपदेश नहीं सुहाता, लोभी तृष्णावान को अपरिग्रह वाद नहीं सुहाता है उसी प्रकार कुछ दूषित परिणाम वालों को हित उपदेश भी नहीं सुहाता है। एक प्राचीन श्लोक भी है -

शिष्टाय दुष्टो विशताय कामी, निसर्गतो जागरुकाय चोरः।

धर्मार्थिने कुप्यति पाप वृत्तिः शूराय भीरु कविश्च मूर्खः॥

शिष्ट पुरुषों से दुष्ट व्यक्ति, शीलवान ब्रह्मचारी से कामी, कुशील पुरुष, धर्मात्मा से पापी, शूरवीर से कायर पुरुष स्वाभाविक रूप से ईर्ष्या, घृणा, कोप करते हैं। तथापि महान् व्यक्ति सत्य पथ में नम्रतापूर्वक दृढ़तापूर्वक समस्त बाधाओं को चीरते हुए, आगे बढ़ते ही रहते हैं। जब तक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लेते। एक कवि ने कहा भी है-

जीवन में आंधी आवे, आवे घोर तूफान।

सुमेरु सा अचल रहे, यहीं साधु पहचान॥

वीरसेन स्वामी ने जयधवला में भी कहा है-

सिंह गज वृषभ मृग पशु, मारुत सूर्योददिथि मन्दरेन्दु मण्यः।

क्षिति उरगाम्बर सदृशाः परमपद विमार्गका साधवः।

सिंह के समान निर्भयी, धीर वीर धैर्यवान परन्तु हिंसक नहीं। ऐसा होता है साधु और वह होता है गज के समान बलवान, वृषभ के समान भद्र- मृग के समान सरल- मारुति यानि हवा के समान निसंग, सूर्य के समान तेजवान, दैदीप्यमान परन्तु भोंदु नहीं, कायर नहीं। साधु किसी के आदेश के अनुसार नहीं चलता। साधु की गति को उसके विचारों को कोई चुनौती नहीं दे सकता। तो कैसा होता है साधु? उदधि के समान गंभीर। उदधि में अनेक रत्न होते हैं तभी तो उसे रत्नाकर कहते हैं, परन्तु फिर भी समुद्र गंभीर होता है। इसी प्रकार सम्यकदर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय के धारी होने पर भी साधु गंभीर होते हैं। और सुनिये साधु इन्दु (चन्द्रमा) के समान शीतल होता है। संस्कृत के कवि भवभूति ने उत्तर रामचरित में कहा है-

वज्रादपि कठोरणि मृदुनि कुसुमादपि।

लोकोत्तरणां वेत्तांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

साधु वज्र के समान कठोर होते हैं, चारित्र में बड़े कठोर होते हैं, परन्तु दूसरों को कष्ट नहीं देते, दूसरों के लिए वे मृदु कमल के समान कोमल होते हैं। दूसरों के दुखों में दुःखी हो जाते हैं। उनका ध्यान रहता है कि उनके द्वारा एकेन्द्रिय जीव को भी कष्ट न हो। विचित्र स्वभाव सम्पन्न होते हैं साधु।

मैंने भी उपरोक्त भावों से प्रेरित होकर इस कृति का सृजन किया है, धर्म को आधुनिक, धार्मिक, वैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक दृष्टिकोण से प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत एवं प्रचार-प्रसार करने के लिए अभी तक प्रायः ८०-९० पुस्तकें लिखी हैं, उनमें से ६० पुस्तकें विभिन्न संस्करण में प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ पुस्तकें तो ५-५, ६-६ भाषाओं में प्रकाशित हो गई हैं। इस पुस्तक में मैंने विशेष करके धर्म एवं राजनीतिज्ञ में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं। यह सुझाव यदि सत्य तथ्य एवं युगानु-कूल हैं, उसे अवश्य सत्यग्राही, उदारचित्त व्यक्ति स्वीकार करें, जिससे स्व-पर, देश, विश्व का कल्याण हो। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि हो तो गुणग्राही उदारमना व्यक्ति मुझे सूचित करें, जिससे उसे मैं आगे सुधार सकूँ। जिस प्रकार हंस नीर मिश्रित क्षीर से नीर को त्याग कर क्षीर ही ग्रहण करता है, उसी प्रकार विवेकशील व्यक्ति इस पुस्तक से दुरुण को त्याग करे।

इस कृति की रचना में मैंने विशेषकर मेरे मन में स्थित क्रांतिकारी भाव-नाओं को लिपिबद्ध किया है और इस भाव के अनुकूल प्राचीन कुछ जैन एवं अजैन मनीषी, आचार्यों के सिद्धान्तों को उधृत किया है। इसलिए मैं उनका आभारी हूँ। मेरा लेखन कार्य व्यापक होने के कारण मैं हमारे संघस्थ साधु, साध्वी, ब्रह्मचारीणी, कुछ मेरे धार्मिक शिष्य एवं प्राध्यापकों का भी सहयोग लेता हूँ। उनके लिए भी मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। इस पुस्तक के लेखन कार्य में ब्रह्मचारीणी सुषमा, ब्र. संध्या, कु. आरती, मैना, श्वेता, संगीता, ज्योति, नीतिका, रीना, मीना का योगदान है, उन्हें मेरा आशीर्वाद है।

इस पुस्तक का अध्ययन करके समस्त जीव-जगत् सत्य को जाने, माने, पहचानें एवं सत्य को प्राप्त करें, ऐसी महती शुभकामनाओं के साथ-

उपाध्याय कनकनंदी

## विषय सूची

अध्याय विषय अनुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

प्रथम-

१. ये कैसे धर्मात्मा...???

1

द्वितीय-

२. ये कैसे पूजा दानादि...???

26

तृतीय-

३. ये कैसे तप ज्ञानादि...???

43

चतुर्थ-

४. ये कैसे शुद्धशाकाहारी...???

51

पंचम-

५. ये कैसे परोपकारी राष्ट्र सेवक...???

61

## अध्याय १

### ये कैसे धर्मात्मा...???

ॐ इन्द्रं श्री सत्यसाम्यसुखाय नमो नमः।

वस्तु का शुद्ध स्वरूप ही धर्म है। इस सार्वभौम धर्म के ही अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। विश्व में छह मौलिक द्रव्य हैं। इनमें से (१) धर्मद्रव्य (गति माध्यम) (२) अधर्मद्रव्य (स्थिति माध्यम) (३) आकाश द्रव्य (अवकाश माध्यम) (४) कालद्रव्य (परिवर्तन माध्यम) तो शाश्वतिक शुद्ध होने के कारण वे सदा अपने-अपने धर्म में स्थिर ही रहते हैं, परन्तु (५) पुद्गल (भौतिक द्रव्य तथा शक्ति) (६) जीव द्रव्य (चैतन्य शक्तियुक्त संसारी तथा मुक्त जीव) अशुद्ध रूप भी है तथा शुद्ध रूप भी। परमाणु पुद्गल की शुद्धावस्था है तो स्कन्ध अशुद्ध अवस्था है द्विअणुकस्कन्ध से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध तथा जल, वायु, मृदा, अग्नि, विद्युत, सूर्यरश्मि आदि अशुद्ध पुद्गल हैं। पुद्गल की अशुद्धता स्वकृत भी है तथा परकृत भी है। पुद्गल एक बार शुद्ध होने के बाद भी स्वपरकारण से अशुद्ध भी हो जाता है। जीव के लिये अन्य पाँच द्रव्यों का यथायोग्य सहयोग भी चाहिए। इस कृति में मुझे विशेषतः जीवद्रव्यों के सम्बन्ध में वर्णन करना है अतः यहाँ मैं अन्य द्रव्यों के वर्णन से विराम लेता हूँ। विशेष जिज्ञासु मेरी 'विश्व विज्ञान रहस्य', 'स्वतंत्रता के सूत्र' 'धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका' ॥। आदि का अध्ययन करें।

जीवद्रव्य विश्व में सर्वश्रेष्ठ द्रव्य है, तत्व में सर्वश्रेष्ठ तत्व है क्योंकि जीव में ही ज्ञान, दर्शन, सुखादि असाधारण गुण पाये जाते हैं, जीवद्रव्य के मुख्य दो भेद पाये जाते हैं। यथा- (१) शुद्ध जीवद्रव्य (२) अशुद्ध जीवद्रव्य। जो समस्त बंधनों से / दुःखों से / अशुद्धता से / वैभाविक भावों से / मिथ्यात्वराग- द्वेष- काम- तृष्णा- ईर्ष्या- घृणादि पापों से रहित होकर शुद्धसच्चिदानन्द/ 'सत्य- शिवं- मंगलं' सत्यं- साम्यं- सुखं या अभेद रत्नत्रय रूप बन जाता है। उसे ही शुद्ध जीव कहते हैं। यही शुद्ध स्वरूप ही जीव को वास्तविक धर्म है/ निश्चय धर्म है/ आध्यात्मिक धर्म है। इस ही धर्म को प्राप्त करने का जो उपाय है/ साधन है/ मार्ग है/ कारण है उसे ही व्यवहार धर्म कहते हैं।

'शुद्ध' स्वरूप की उपलब्धि होने पर व्यवहार धर्म छूट जाता है। व्यवहार धर्म छूटे बिना निश्चय धर्म की उपलब्धि नहीं होती है। तथापि बिना व्यवहार धर्म निश्चय धर्म की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे जो फल फूल में लगता है उस फल की उपलब्धि बिना फूल नहीं हो सकती है, परन्तु फल की पूर्णता के बाद उस फल के लिये उस फूल की आवश्यकता नहीं रहती है, इसलिये जब तक फल की पूर्णता नहीं होती है तब तक अपक्व फल के साथ-२ फूल की भी आवश्यकता रहती है अतः उसकी भी समृद्धि सुरक्षादि की आवश्यकता है। परन्तु जैसे जिस फूल में फलोत्पत्ति की शक्ति नहीं हैं ऐसे फूल की समृद्धि सुरक्षादि से भी फल की उपलब्धि नहीं हो सकती है वैसे ही निश्चय धर्म आत्मा की पवित्रता/ रत्नत्रय/ अहिंसादि/ पंचब्रत/ उत्तम क्षमादि दशधर्म के अभाव से व्यवहार धर्म (उपवास स्वाध्याय, रसत्याग, मौन, पूजा, दानादि) मोक्षरूपी फल नहीं दे सकता है भले ही वह फलोत्पत्ति-शक्ति से रहित फूल के समान कुछ निरतिशय पुण्यरूपी सुगन्धि एवं सुन्दरता दे सकें।

द्रव्य/ सत्य शाश्वतिक होने के कारण धर्म भी शाश्वतिक है, अतएव धर्म को कोई माने- जाने- आचरे या न माने- न जाने- न आचरे तथापि वस्तु-स्वरूप, धर्म स्वरूप में परिवर्तन नहीं हो सकता है, परन्तु जो शुद्ध धर्म को प्राप्त करता है, वह स्वयं धर्मस्वरूप/ सुख स्वरूप/ शिवस्वरूप/ मंगल स्वरूप/ अमृतरूप बन जाता है और जो धर्म को स्वीकार नहीं करता है, वह अधर्मरूप/ दुःख रूप/ शवरूप/ अमंगलरूप/ मृतरूप बन जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि जो धर्माचारण करता है वह स्वयं का ही उपकार करता है न कि धर्म का उपकार करता है। इस ही प्रकार जो धर्म के विरुद्ध चलता है वह स्वयं का ही विरुद्ध/ पतन करता है। इस कारण से निर्मल धर्म का आचरण शुद्ध भाव से तथा शुद्ध साधनों से करें। धर्म का निश्चयाधार भाव है अतः हर क्षण हर क्रिया में, प्रत्येक साधन में भाव की निर्मलता/ पवित्रता/ स्वच्छता/ सहजता सरलता को मुख्य स्थान/ प्रधानता दें। जहाँ भाव में पवित्रता होगी वहाँ साधन, साध्य, ध्येय में पवित्रता रहेगी ही। यदि साधनादि में पवित्रता नहीं है, तो जानना चाहिए कि अभी भाव में पवित्रता नहीं आयी है। जैसे जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं हो सकता, वैसे ही जहाँ अन्तरंग में पवित्रता है, वहाँ बाह्य साधन, उद्देश्य, व्यवहार, कार्यप्रणाली, भोजन, व्यापार,

भाषा, आदान-प्रदान में भी अपवित्रता नहीं आ सकती है, क्योंकि शुद्ध सुवर्ण से जो अलंकारादि बनते हैं उसमें भी शुद्ध सुवर्ण ही रहेगा यदि अलंकार का सुवर्ण अशुद्ध है तो निश्चित होता है कि सुवर्ण में कुछ मिलावट है। इसी ही प्रकार जिसके बाह्य व्यवहार, व्यापार, भोजन, भाषण अशुद्ध हैं तो उससे निश्चित होता है कि उसके भाव भी अशुद्ध हैं, भले ही वह स्वयं को शुद्ध/धार्मिक बताये या जाताये। अधिकांश जीव स्वयं को महान/धार्मिक/पवित्र बताने एवं जाताने के लिये धर्म का तो बाह्य रूप का आचरण करते हैं, परन्तु अन्तरंग रूप से धर्म से अस्पर्श रहते हैं। इसलिये उनसे परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से अधर्म का ही आचरण हो जाता है। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है-

धर्मः शब्द मात्रेण बहुशः प्राणिनोऽधर्मा।

अधर्ममेव सेवन्ते विचार जड़ चेतसा॥

अर्थात् बहुशः अधर्म प्राणी विचार जड़ चित्त से अधर्म को ही सेवन करता है।

वर्तमान काल हुण्डावसर्पिणी का पंचम (कलि) काल है। इस काल में अधिकांश जीव नरक से आयेंगे एवं नरक में जायेंगे। सम्यग्दर्शन को लेकर भी इस काल में जीव यहाँ जन्म नहीं लेंगे, भले कुछ जीव यहाँ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करेंगे। इसलिये अभी सम्याद्विष्ट जीव कम हैं। कहा भी है-

कलिप्रावृष्टि मिथ्यादिद्वयोघच्छन्नासु दिक्षिवह।

खद्योतवत्सुदेष्टारो हात्यात्मने कवचित् कवचित् (९)

सा. धर्मा. पृ. ९३

बड़े दुःख की बात है कि इस भारत क्षेत्र में पंचम कालरूपी वर्षाकाल में सदुपदेशरूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेशरूपी बादलों से व्याप्त हो जाने पर सुदुपदेश देने वाले गुरु जुगनुओं के समान कहीं-कहीं पर दिखते हैं अर्थात् सब जगह नहीं मिलते। सम्यग्दर्शन के अभाव से तो अन्तरंग से धर्म का सेवन नहीं होता है, परन्तु कुछ बाह्य कारक से धर्माचरण होता है। कभी-कभी तो उसका साधन एवं साध्य अपवित्र रहता है, तो कभी साध्य, तो कभी साधन अपवित्र रहता है। ‘गोमुख व्याघ्र’ वाले व्यक्ति जो धर्माचरण करते हैं, उसके कुछ बाह्य कारणों का वर्णन पूर्वाचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है-

भ्रयं दाक्षिण्य कीर्ति च लज्जया आशा तथैव च।  
पंचभि पंचमकाले जैनो धर्मः प्रवर्तते।

पंचम काल के लोग जैन धर्म को (१) लोक भय से (२) अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिये (३) कीर्ति के लिये (४) लज्जा से (५) आशा से पालन करेंगे।

पंचम काल में धर्म की जो दयनीय स्थिति है, उसका कुछ पूर्वाभास सप्राप्त चन्द्रगुप्त मौर्य के १६ स्वप्न में पाया जाता है। उन स्वप्नों में से कुछ स्वप्नों के फल नीचे उद्धृत करता हूँ। यथा-

बहुरंधान्वितस्येन्दोर्मण्डलोकनादिह।

मत भेदा भविष्यन्ति बहुवः जिनशासने॥(३४)।

चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्र युक्त देखना पंचम काल में जिन मत के अनेक मतों का प्रादुर्भाव कहता है।

खद्योतोद्योतनाल्लोका जिन सूत्रोपदेशाकाः।

मिथ्यात्व बहुलास्तच्छा जिन धर्मोपि कुत्रचित्॥(३५)।

खद्योत का उद्योत देखने से जिन सूत्रों के उपदेश करने वाले मनुष्य मिथ्यात्व युक्त होंगे और जिनधर्म कहीं-कहीं रहेगा।

रजसाऽच्छादित सद्रजराशोरीक्षणातो भृशम्।

करिष्यन्ति नृपाः स्तेयां निर्गन्धमुनयो मिथः॥(७)॥

धूलि से आच्छादित रत्नराशि के देखने से निर्गन्ध मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लगेंगे।

चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा देखे हुए स्वप्नों का फल भद्रबाहु स्वामी ने भविष्यवाणी रूप में जो घोषणा की थी वह घोषणा आज सत्य साबित हो रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वप्न-स्वप्न ही नहीं रहा वास्तविक रूप में परिणम होते हुये अनुभव में आ रहा है। तीसरे स्वप्न में चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्र युक्त देखने का फल, कलिकाल में जिनमत के अनेक मत, सम्प्रदाय, पंथ का प्रादुर्भाव होने का निर्णय भद्रबाहु स्वामी ने किया था। उसका वास्तविक रूप आज अहिंसा परायण, साम्यवादी, अनेकांत एवं स्याद्वाद के पुजारी जैनियों

में अनेक मतभेद होते जा रहे हैं। जो धर्म समस्त विवादों का विनाशक एवं समता, एकता का विधाता था, आज उसी धर्मों में छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव, विवाद, मनमुदाव, मुकदमा, शीतयुद्ध चल रहा है। इसमें केवल साधारण जैन ही भाग नहीं ले रहे हैं, किन्तु विशिष्ट श्रावक, नेता, कर्णधार, पंडित, ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि, आर्यिका, उपाध्याय, आचार्य आदि भी सक्रिय भाग ले रहे हैं। पहले दीपक के नीचे अन्धकार रहता था, किन्तु वैज्ञानिक युग में बल्ब, ट्र्युब आदि के नीचे अन्धकार है। इसी प्रकार पहले मिथ्या कुर्धम में विवाद आदि होता था परन्तु आज जैन धर्म में भी अधिक विवाद हो रहा है यह सब कर्म दोष से संकुचित स्वार्थान्ध मनोभाव से तथा कलियुग के प्रभाव से हो रहा है। कलियुग की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुए चित्रकों ने यथार्थ से कहा है-

सीदंति संतो विलसंत्यंसंतः पुत्रा मियंते जनकाश्चिरायुः।  
परेषु मैत्री स्वजनेषु वैरं पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि॥

हे विश्व के लोग! कलिकाल के आश्चर्यपूर्ण कौतुक को देखिये। इस कलिकाल में सज्जन लोग दुखित होते हैं तथा दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त होते हैं, पुत्र का मरण होता है तथा पिता दीर्घजीवी होता है। दूसरों से मित्रता करते हैं तथा स्वजन से वैरभाव रखते हैं।

अनृते पटुता चौरे चित्तं सतामपमानता।  
मतिरविनये धर्मे शाढ्यं गुरुष्वपि वंचना।  
ललित मधुर वाक् प्रत्यक्षे परोक्ष विभाषिणी।  
कलियुग महाराजस्येताः स्फुरन्ति विभूतयः।

झूठ बोलने में चतुर-दक्ष, चोरी में दत्त चित्त, सज्जनों का अपमान, पुत्र पिता से द्वेष करने वाला, अविनीत मति, धर्म में शठता (मायाचारी) गुरु की भी वंचना, प्रत्यक्ष में ललित, मधुर वचन बोलना एवं परोक्ष में विपरीत भाषण करना यह सब कलियुग महाराज के वैभव का विस्तार है।

धर्मः प्रज्वलितस्तपः प्रचलितं, सत्यं च दौरे गतं।  
पृथ्वी मन्दफला नृपोऽति कुटिलो, लौल्यं गता ब्राह्मणाः।।  
लोका स्त्रीषुरताः स्त्रीयोऽपि चपलाः शास्त्रागमे विप्लवः।।  
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ॥।।

कलिकाल के प्रवेश से धर्म एवं प्रज्वलित तप चलायमान हो जाते हैं, सत्य दूर भाग जाता है, पृथ्वी कम फल देने वाली हो जाती है, राजा अत्यन्त कुटिल तथा ब्राह्मण अत्यन्त लोलुपी हो जाते हैं, लोग स्त्री में आसक्त रहते हैं, स्त्री अत्यन्त चंचल हो जाती है, शास्त्र- आगम में अनेक विप्लव होते हैं, साधु दुःख पाते हैं, दुर्जन लोग प्रभाव को प्राप्त करते हैं।

निर्वाचो पृथिवी, निरौषधिरसो, नीचा महत्वं गताः।।।  
भूपाला निज कर्म धर्म रहिता, विप्राः कुमारोऽरताः।।।  
आर्या भर्तु विशेषिनी पर रता, पुत्राः पितृदेषिणोः।।।  
हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या नरा सज्जनाः।।।

दुःख की बात है कि कलियुग में पृथिवी वीर्यहीन (सारहीन) हो जाती है, रस, प्राणशक्ति को देने वाली औषधि से रहित पृथ्वी हो जाती है, नीच लोग महत्व को प्राप्त हो जाते हैं, राजा लोग स्व- कर्तव्य एवं धर्म से रहित हो जाते हैं, ब्राह्मण लोग कुमार्ग में गमन करते हैं, स्त्री (भार्या) पति विरोधिनी होकर पर पुरुष में रत होती है, पुत्र पिता के द्वेषी हो जाते हैं। इसी प्रकार भयंकर कलियुग में जो नर धर्म, नीति, नियम को पालन करते हैं, वे धन्य हैं।

वर्तमान समय में धर्म की अपेक्षा धन की, त्याग की अपेक्षा संग्रह की, योग की अपेक्षा भोग की सहजता की अपेक्षा, कृत्रिमता की, सरलता की अपेक्षा कुटिलता की, प्रज्ञा/ विवेक की अपेक्षा धूरता की, शिक्षित की अपेक्षा साक्षरता की प्रधानता है। अधिकांश व्यक्ति स्वदीपक को प्रज्वलित किये बिना दूसरों के दीपक प्रज्वलित करना चाहते हैं, बोध बिना शोध करते हैं, बिना भक्त बने भगवान् बनना चाहते हैं, शिष्य बने बिना गुरु बनते हैं, स्वयं उत्थ्रृंखल व्यवहार करते हुए भी दूसरों को अनुशासन का पाठ पढ़ाते हैं। “चोर को तबाल को डांटता है” कहावत के अनुसार कुछ पापी सज्जन को आदर्श का उपदेश देते हैं, परिग्रहादि से लिप्त व्यक्ति निर्ग्रन्थ साधु को भी अहिंसा का मार्ग दिखाते हैं। साधुओं की वृत्ति अलौकिक होती है तथा पि कुछ व्यक्ति साधु के लिंग (वेष) में लोकेषण, प्रसिद्धि, ख्याति, पूजा, लाभ, पन्थवादादि कतिपय कारणों से लौकिक जनों का ही अनुसरण/ अनुकरण करते हैं, उन्हीं की प्रशंसा करते हैं, उन्हीं के निर्देश, उद्देश्य के अनुसार कार्य करते हैं, यहां तक कि कुछ साधु वेषधारी तो सत्य धर्म एवं सच्ची परम्परा को

भी त्याग कर देते हैं। यह सब 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के कारण होते हैं। अतः सत्यग्राही मुमुक्षुओं को अपनी प्रखर प्रज्ञा, अविचल वृत्ति से सत्य, न्याय, समता को ही स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि इससे ही स्व-पर, इह-लोक-परलोक कल्याण निहीत है। आगम में कहा गया है कि दूसरों के मिथ्या उपदेश को स्वीकार करना प्रहीत मिथ्यात्व है। निर्दोष, निष्पक्ष, निर्लोभी, निरहंकारी, निर्भयी, निर्मल, सत्यग्राही, सत्यंदृष्टा ही सत्यार्थ कथन कर सकता है। अतः उनके कथन को ही स्वीकार करना चाहिये परन्तु जो उपर्युक्त गुणों से रहित है, वह सत्य कथन नहीं कर सकता है, अतः उसके वचन स्वीकार नहीं करना चाहिये। इसीलिये धर्मात्मा का एक विशिष्ट गुण है 'अमू-दृष्टि सम्पन्नता'। बिना अमूढ़ हुये कोई सत्यग्राही / सम्यग्वृष्टि / साम्यवादी / धर्मात्मा नहीं बन सकता है। और बिना सत्यग्राही हुये ज्ञान, चारित्र, पूजा-पाठ, दान, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, तप, त्यागादि इकाई बिना शून्य के समान है। जैसे-बाम भाग में पूर्णांक / इकाई (१-२-३ आदि) के बिना एक शून्य का मूल्य शून्य है, दो शून्य का मूल्य भी शून्य है। इसी ही प्रकार ३-४ से लेकर करोड़-अरबों शून्य का मूल्य भी शून्य ही होता है, परन्तु जब बाम भाग में कोई इकाई सहित है तब एक शून्य लगाने पर उसका मूल्य १० गुण बढ़ जाता है, दो शून्य लगाने पर १०० गुण बढ़ जाता है। इस प्रकार ही प्रकार सत्य-ग्राही, सम्यग्वृष्टि के ज्ञान, चारित्र, पूजा-पाठ, दान, त्याग, स्वाध्यायादि सत्य एवं बहुमूल्य सम्पन्न हो जाते हैं। आत्मानुशासन में कहा भी है-

शम्बोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव पुंसः।

पूज्यं महामणेश्वितदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम्। (१५)

पृ. १८

पुरुष के सम्यक्त्व से रहित शांत, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्व पत्थर के भारीपन के समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्व यदि सम्यक्त्व से सहित है तो वह मूल्यवान मणि के महत्व के समान पूजनीय है।

इसलिये तो सम्यग्दर्शन को 'धर्म का मूल' मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। समन्तभद्र स्वामी ने तो 'जीवों के कल्याण के लिये तीन लोक में तीन कालों में सम्यग्दर्शन के समान श्रेय / श्रेष्ठ और कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेय / अकल्याण / पाप नहीं है'

ऐसा स्पष्ट कहा है। ऐसे महान् सम्यग्दर्शन का स्वरूप भी उन्हीं ने निम्नोक्त प्रकार से कहा है-

श्रद्धानं परमार्थनामाशाश्वतपोभृताम्।

त्रिमूढापोदमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्। (४) पृ. C.

परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढ़ताओं से रहित आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

समन्तभद्रस्वामी की सम्यग्दर्शन की परिभाषा बहुत ही व्यापक, अनुभव-परक एवं अकाद्रय भी है, महान् समीक्षक आचार्य श्री ने कहा है कि श्रद्धावान बनो, परन्तु अंधश्रद्धानी नहीं, सत्यग्राही होकर भी विनम्री बनो, ज्ञान, धन, बलादि को आत्मकल्याण में प्रयोग करके सदुपयोग करो परन्तु उससे अभिमानी बनकर स्व-पर अपकार करके दुरुपयोग मत करो। केवल सत्य / द्रव्य / तत्व या देव-शास्त्र- गुरु की श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ-साथ धार्मिकों के साथ भी वात्सल्यपूर्ण सद्व्यवहार करो, उनकी सेवा करो। धर्माचरण करते हुए भी उसके फल से निहित स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा, चेष्टा मत करो। स्वयं निर्मल धर्माचरण करते हुए भी किसी धार्मिक व्यक्ति की किसी भी प्रकार की तृटि होने पर उस तृटि को एकांत में उसे समझा कर दूर करता है, परन्तु उसको अपमानित करने योग्य किसी भी प्रकार कार्य नहीं करता है। परन्तु वर्तमान काल में देखने में आता है कि कुछ व्यक्ति स्वयं को सच्चा सम्यक्दृष्टि, मुमुक्षु, आगमनिष्ठ मानते हुये एवं बताते हुए भी उपर्युक्त गुणों से रहित पाये जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का ज्ञान, त्याग, तप, अहंकार के लिये होता है। वे दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं को महान् बताते हैं। नारद जिस प्रकार दूसरों को परस्पर में भिड़ाकर ताली बजाकर नाचता था उसी प्रकार आज कुछ नामधारी धार्मिक व्यक्ति अन्य को परस्पर भिड़ाकर अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं या हिंसानन्द, मृषानन्द आदि आर्तध्यान, रौद्रध्यान करते हैं। जो अहंकार रूपी मद्य सेवन करता है, वह कभी भी सच्चा सम्यग्दर्शन का धारी नहीं हो सकता, क्योंकि जो घमंड वशतः व बड़प्पन के कारण दूसरे धार्मिक व्यक्तियों का अनादर करता है, वह धर्म का भी अनादर करता है और धर्म का अनादर

करता है वह यथार्थ धार्मिक व्यक्ति नहीं हो सकता है। समन्तभद्रस्वामी ने कहा भी है -

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।  
सोऽत्येति धर्मात्मीयं न धर्मो धार्मिकर्तिना। (२६)

पृ. ८५

ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकार के भेदों का वर्णन किया गया है, उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय रूप धर्म में स्थित अन्य धर्मात्माओं को तिरस्कार करता है- अवज्ञा के द्वारा उनका उल्लंघन करता है, वह जिनेन्द्र प्रणित अपने ही रत्नत्रय रूप धर्म का तिरस्कार करता है, क्योंकि रत्नत्रय का पालन करने वाले धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता है परन्तु वर्तमान पंचम कलिकाल में अधिकांश व्यक्ति अन्य धार्मिक व्यक्तियों को अपमानित करने में ही येन-केन प्रकार से प्रयत्नशील रहते हैं, वे नहीं सोचते हैं कि इस प्रकार व्यवहार से स्व-पर एवं धर्म की भी क्षति होती है, इसलिये वर्तमान धार्मिक व्यक्ति, धर्म स्थल तथा धर्म की दुर्दशा भारुण्ड पक्षी की दुर्दशा के बराबर है। पंचतन्त्र में इसकी एक रोचक बोधप्रद कहानी निम्न प्रकार है-

एकोदरा: पृथग्नीव अन्योन्यफलभक्षिणः।  
असंहता विनश्यन्ति, भारुण्डा इव पक्षिणः। (१२)

एक मत न होकर कार्य करने वाले व्यक्ति एक उदर, किन्तु दो मुख वाले और परस्पर में पृथक्-पृथक् फलों को खाने वाले भारुण्ड नामक पक्षी के समान विनष्ट हो जाते हैं।

किसी सरोवर में एक पेट, किन्तु पृथक्-पृथक् कण्ठ वाला एक भारुण्ड नाम का पक्षी रहता था। एक दिन समुद्र के किनारे धूमते हुए उसको अमृत तुल्य फल मिल गया, जो समुद्र की तरंगों द्वारा तीर पर लाया गया था। उस फल को खाते हुये उसने कहा- ओह! मैंने समुद्र की लहरों द्वारा तीर पर लाये गये बहुत से अमृत तुल्य फल खाये थे, किन्तु इसका स्वाद तो विलक्षण ही है, तो क्या यह किसी देव वृक्ष का फल है? अथवा अलक्षित भाग्य ने कहीं से इस अमृतमय फल को लाकर यहाँ छोड़ दिया है?

प्रथम मुख की बात सुनकर द्वितीय मुख ने कहा- ओर भाई! यदि इतना मधुर है तो थोड़ा मुझे भी दे दो, जिससे मैं भी इसके स्वाद का आनन्द ले लूँ।

यह सुनकर पहले मुख ने कहा- हमारा एक ही तो पेट है और एक से ही तृप्ति भी होती है, फिर अलग-अलग खाने से क्या लाभ है? अच्छा तो यह होगा कि अवशिष्ट भाग प्रियतमा को दे दिया जाय, जिससे वह भी सन्तुष्ट हो जायेगी।

यह कहकर अवशिष्ट फल को उसने अपनी पत्नी को दे दिया। उस फल के खाने के बाद वह प्रसन्न होकर पति को आलिंगन, चुम्बन तथा कटाक्ष-विक्षेप आदि द्वारा प्रसन्न करने लगी। दूसरा मुँह उस दिन से उदास एवं खिन्न रहने लगा।

किसी दूसरे दिन दूसरे मुँह को एक विष का फल मिल गया। उसको देख-कर उसने कहा- ओर निष्कर्षण! नराधम! निरपेक्ष! आज मैंने विषफल पाया है। तुमसे अपमानित होने के कारण मैं उसे खाऊँगा। यह सुनकर पहले मुँह ने कहा- मूर्ख! ऐसा करने से तो हम दोनों का ही विनाश हो जायेगा। उसके मना करने पर भी दूसरे मुँह ने उस फल को खा लिया। अधिक क्या कहा जाय, दोनों ही उस विषफल को खाने से मर गये। इसीलिये मैं कहता हूँ कि एकमत न होकर कर्म करने से भारुण्ड पक्षी के समान व्यक्ति का विनाश हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि जब दो व्यक्तियों में द्वेष उत्पन्न हो जाता है, तब परस्पर में कष्ट देने को तुल जाते हैं, भले दूसरों को कष्ट पहुँचाते समय स्वयं को भी कष्ट क्यों न पहुँचे। उपर्युक्त उदाहरण में यह बतलाया गया है कि भारुण्ड पक्षी एक उदर एवं दो मुख वाला पक्षी था। एक मुख के विरोध से जब दूसरे मुख ने विषफल खा लिया तब भारुण्ड पक्षी ही मरण को प्राप्त हुआ, तब दोनों मुख का ही प्राणान्त हो गया। इसी प्रकार समाज, धर्म, राष्ट्र का शरीर एक है, परन्तु व्यक्ति रूप मुख अनेक हैं। जब समाज आदि के अभिन्न अंग एक व्यक्ति दूसरों को कष्ट देने के लिये कुछ कार्य करता है, तब वह दूसरों के साथ स्वयं को भी कष्ट पहुँचाता है। इसीलिये दूसरों को कष्ट देना मानो स्वयं को कष्ट देना है, अतः पूर्वाचार्यों ने कहा है-

“जीव वध आत्म वध भवति” दूसरे जीवों का वध आत्मवध है। इसी-लिये नीतिकारों ने कहा है-

“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।”

Do not practice on to others what is not agreeable to you.

जो व्यवहार स्वयं के लिए प्रतिकूल है, वह दूसरों के लिए भी प्रतिकूल होने के कारण वह व्यवहार दूसरों के साथ न करें।

दुश्मन का नाश दुश्मन को कष्ट देकर या मारकर नहीं किया जा सकता है। परन्तु प्रेम एवं मैत्री से हृदय परिवर्तन से दुश्मन का समूल विनाश किया जा सकता है। शत्रु को किस प्रकार समूल रूप से विनाश किया जा सकता है, उसका एक रोचक प्रसंग नीचे दे रहे हैं-

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन एक महान् उदार राजनीतिज्ञ थे। वे मित्र के साथ जैसा सद्व्यवहार करते थे वैसा शत्रु के साथ भी व्यवहार करते थे। उनके कुछ शत्रु उनके पीछे उनकी कटु आलोचना करते थे, तो भी लिंकन एक सर्वोच्च सत्ताधारी होते हुए भी उनका बदला दण्डादि से नहीं लेते थे। एक दिन उनका एक घनिष्ठ मित्र लिंकन को बोला - आपके अनेक शत्रु हैं, जो आपकी कटु आलोचना करते हैं, उनका आप क्यों प्रतिकार नहीं करते हैं? उनको दण्ड देकर उनका नाश करना चाहिए। लिंकन बोले - उनका समूल विनाश करने की मैं कोशिश कर रहा हूँ। लिंकन का प्रत्युत्तर सुनकर मित्र आश्चर्य पूर्वक बोला कि आप तो शत्रु को एक शब्द तक भी नहीं कहते हैं, तो उनका समूल से विनाश कैसे कर रहे हैं? लिंकन जी उदार, गम्भीर भाव से बोले - शत्रु को मित्र बनाकर समूल विनाश कर रहा हूँ। लिंकन का प्रत्युत्तर सुनकर उनका मित्र निरुत्तर हो गया।

भूदान यज्ञ के पुरस्कर्ता विनोबा भावे भी दूसरों को अपना बनाकर अथवा स्वयं दूसरों का बनाकर, दूसरों को प्रभावित करके उनसे भूमि लेने में अत्यन्त दक्ष थे। वे अहिंसकादी होने के कारण दूसरों को कष्ट देकर या डार दिखाकर भूमि नहीं लेते थे। जब वे जिस जर्मांदार के पास जाते थे और उन्हें जात होता था कि उनके पास अधिक जर्मीन है तब वे उस जर्मांदार से पूछते थे, आप

कितने भाई हैं? जब जर्मांदार कहता था कि हम चार भाई हैं तब विनोबा जी कहते थे कि मुझे पाँचवाँ भाई समझकर अपने भाई को थोड़ी भूमि दे दो। इसी प्रकार अन्य किसी जर्मांदार के पास जाकर पूछते थे कि आपके कितने लड़के हैं? जर्मांदार उत्तर देता था कि मेरे दो या तीन लड़के हैं, तब विनोबाजी कहते थे कि मुझे अपना तीसरा या चौथा लड़का मानकर थोड़ी-सी भूमि मुझे दे दीजिए। इस प्रकार विनोबा भावे के प्रिय एवं अपनेपन के व्यवहार से अन्य लोग विशेष प्रभावित होते थे। वे अपने प्रिय भाई या बेटे को कभी भी निराश नहीं करते थे। उनको कुछ न कुछ प्रेम से भूमि दे देते थे। यह प्रेम और अपने पन का महान प्रभाव।

दो व्यक्ति के विवाद से उन दोनों व्यक्तियों को कोई लाभ तो होता ही नहीं, परन्तु उससे अन्य लोग लाभ उठा लेते हैं। एक प्रसिद्ध किंवदन्ति है कि-एक बार दो बिल्लियों को एक रोटी मिली। परन्तु दोनों में उसके बँटवारे को लेकर झगड़ा हो गया। वे झगड़ा को शान्त करने के लिए एक मध्यस्थ व्यक्ति की खोज करते हैं, तभी वहाँ एक बन्दर आता है, वह बन्दर उनके झगड़े का कारण पूछता है तब दोनों बिल्लियाँ बताती हैं कि इस रोटी के बँटवारे को लेकर हमारे मध्य में कलह है, तब बन्दर बोलता है कि मैं निर्णायिक बनकर रोटी के समान-समान भाग करके आप लोगों को दे सकता हूँ। तब दोनों बिल्लियाँ सहमत हो जाती हैं तब बन्दर तराजु (तुलायंत्र) लाता है, उस रोटी को जान बूझकर छोटा एवं बड़ा रूप में तोड़कर तराजु में डाला। जो टुकड़ा बड़ा था उस तरफ का पलड़ा नीचे हो गया दोनों टुकड़े को समान करने के लिए उसने उस बड़ा टुकड़ा का बहुत बड़ा भाग खा लिया। पुनः उस को पलड़ा में डालता है, जिस से दूसरा पलड़ा भारी होने के कारण नीचे दब जाता है, उसने पुनः समान भाग करने के बहाने से उस दूसरा टुकड़े का भी बहुत बड़ा भाग खा लेता है, जिससे उस भाग का पलड़ा भी नीचे दब जाता है, ऐसा करते-करते बहुत कुछ खा लेता है, अन्त में बोलता है कि मैंने जो निर्णय करने के लिए परिश्रम किया उसका पारिश्रमिक दो। जब दोनों बिल्लियाँ बोलती हैं कि आपने तो हमारा निर्णय किये बिना, हमें कुछ दिये बिना बहुत कुछ खा लिया फिर पारिश्रमिक क्यों चाहते हो। तब बन्दर क्रोधित होकर उन्हें बहुत खरी-खोटी सुनाकर बाकी बची रोटी भी खा लेता है। दोनों बिल्लियाँ

अपनी गलती एवं विवाद का फल जानकर आगे ऐसा नहीं करने की प्रतिज्ञा लेती हैं।

उपर्युक्त प्रकरण से हमें शिक्षा मिलती है कि कलह, विवाद, फूट, वैमनस्य का परिणाम कभी भी अच्छा नहीं होता है, अन्य व्यक्ति हमारी दुर्बल बिन्दुओं को जानकर उन दुर्बल बिन्दुओं से ही हमें दबा देते हैं। अंग्रेजी व्यक्तियों का सबसे बड़ा अस्त्र 'फूट डालो राज्य करो' था। इससे ही वे अन्य अनेक राज्यों में राष्ट्रों में अपना शासन कायम कर पाये थे। कलह आदि में हमारी शक्ति, ऊर्जा, हमारा ज्ञान, हमारी संपत्ति और समय का दुरुपयोग हो जाता है, जिससे हम निःशक्त हो जाते हैं। इसका लाभ उठाकर दुर्बल शत्रु भी सबल हो जाते हैं और हमें धर-दबोच देते हैं एवं पैरों तले रौंद देते हैं। इसके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। यथा-

एक जंगल में चार साण्ड रहते थे। वे परस्पर प्रेम, मैत्री, सहकार से जंगल में स्वतंत्रतापूर्वक हरी-भरी घास चरते हुये, हृष्ट-पुष्ट होकर सुख शान्ति से जीवनयापन करते थे। उस जंगल में एक शक्तिशाली भयंकर हिंसक सिंह रहता था। वह सिंह हृष्ट-पुष्ट साण्डों को देखकर उनके मृदुल मांस खाने के लिए लालायित हो उठा। एक दिन उस सिंह ने जहाँ पर चारों साण्ड घास चर रहे थे, वहाँ जाकर उनमें से एक साण्ड पर आक्रमण किया। आत्मरक्षा के लिये वह शक्तिशाली साण्ड तीक्ष्ण सींगों को आगे करके सिंह पर टूट पड़ा। इस परिस्थिति में अन्य तीन मित्र साण्ड भी मित्र की रक्षा के लिये एक साथ टूट पड़े। चारों दिक् से चारों साण्डों को आक्रमण करते हुए देखकर सिंह अपनी जान बचाकर भाग निकला। इसी प्रकार सिंह अनेक प्रकार आक्रमण करते हुए भी अकृतकार्य होने के कारण अत्यन्त दुःखित था। एक दिन एक लोमड़ी सिंह को दुःखित देखकर पूछने लगी कि हे वनराज! सिंह, आप क्यों दुःखित हैं? सिंह ने अपनी मनोव्यथा लोमड़ी के सम्मुख कह सुनायी। लोमड़ी बोली कि इतनी सी बात के लिये आप क्यों दुःखित हैं। मैं इस की षड्यंत्रणा करती हूँ। मुझे खाने के लिये कुछ बचा-खुचा मांस दे देना। सिंहराज ने संतुष्ट होकर स्वीकृति दे दी। लोमड़ी विचार करने लगी कि जब तक चारों साण्डों में प्रेम, मैत्री, संगठन रहेगा, तब तक सिंह इन्हें मारने में असमर्थ रहेगा। इसीलिये इन चारों के मध्य में फूट डालने पर कार्य की सिद्धि होगी। उसने मन में बहुत

विचार करके फूट डालने की पद्धति को दृঁढ़ निकाला। दूसरे दिन जब चारों साण्ड हरी-भरी घास चर रहे थे, उनमें से एक के पास जाकर उसके कान में कहने लगी। देखो यार जो आगे का साण्ड है, वह तुम्हारा परम शत्रु है। वह साण्ड उसकी एक भी बात नहीं माना, तो भी लोमड़ी उसे विश्वास दिलाने के लिए कहने लगी कि वह साण्ड आगे-आगे घास खाता हुआ एवं कुचलता हुआ जा रहा है, इसका कारण यह है कि तुमको अच्छी घास न मिले, तब तुम दुर्बल रोगी होकर मर जाओगे। इससे साण्ड को विश्वास हो गया कि वह साण्ड मेरा मित्र नहीं शत्रु है। श्रृंगाल स्वयं के कृतकार्य देखकर वहाँ से अन्य साण्ड के समीप गया। वह साण्ड पूछता है कि तुम मेरे मित्र को क्या कह रही थी, वह बोली कि वह तेरा मित्र नहीं शत्रु है, क्योंकि वह तो मुझे यही बोल रहा था कि मेरे आगे-आगे घास चरता हुआ एवं कुचलता हुआ जा रहा है, जिससे मुझे अच्छी घास खाने को न मिले, इसलिये वह तेरा छद्य शत्रु है। इस प्रकार लोमड़ी की बात सुनकर वह साण्ड अंतरंग में मित्र के प्रति द्वेष करने लगा। इसी प्रकार लोमड़ी ने चारों साण्डों के मध्य में फूट डाल दी। इसके बाद लोमड़ी ने जाकर सिंह को समस्त वृतान्त कह सुनाई। सिंह ने संतुष्ट होकर एक साण्ड पर आक्रमण कर दिया, उस समय अन्य-अन्य साण्ड मन में विचार कर वहाँ से भाग खड़े हुये। सिंह ने उस साण्ड को मारकर खा डाला तथा बचा-खुचा मांस लोमड़ी को दे दिया। कुछ दिन के बाद अन्य एक साण्ड पर आक्रमण किया और उसे मारकर खा डाला। तब भी अन्य दो साण्डों ने अपना-अपना शत्रु मानकर सिंह का प्रतिकार नहीं किया। इस प्रकार उस सिंह ने चारों साण्डों को मारकर खा डाला।

उपरोक्त उदाहरण से पाठकाण को स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जब चारों साण्ड प्रेम, मैत्री भाव से संगठित होकर निवास कर रहे थे, तब सिंह एक को भी मारने में सफल नहीं हुआ, परन्तु लोमड़ी की फूट-नीति के कारण चारों, बिना सोचे-विचारे परस्पर शत्रु हो गये। इस फूट के कारण असंगठन का भाव हुआ और इस असंगठन का अवसर प्राप्त कर सिंह ने एक-एक को आक्रमण करके खा डाला। यह है- संगठन एवं विघटन का फल। इसीलिये महान् विचारक जोहन डाक्सन ने यथार्थ में कहा है-

By uniting we stand; By dividing we fall.

संगठन के माध्यम से जीवित, स्थिर, सुदृढ़ रह सकते हैं एवं विघटन से हम अकृत कार्य होकर मिट जायेगे। कोई भी देश, राष्ट्र, समाज, धर्म, परिवार, संस्था आदि तब तक हरा-भरा होकर पल्लवित, पुष्पित, फलित होता है, जब तक उस देश आदि में सम्बन्धित जन प्रेम, मैत्री एवं समता भाव को सुसंगठित होकर परस्पर में कंधे से कंधा मिलाकर आचरण एवं सहवास करते हैं, परन्तु जब वे परस्पर शत्रुता भाव से आपस में विश्वास खोकर विघटित हो जाते हैं, तब देश आदि का पतन होना संभाव्य ही नहीं, निश्चित है।

यदि कोई धार्मिक व्यक्ति की धार्मिक क्रियाकाण्ड एवं पद्धति अलग है, और वह पद्धति स्वयं को पसन्द नहीं है, तो सर्वप्रथम यथार्थ क्रिया कौन-सी है, उसका परिज्ञान करना चाहिये, यदि आपकी क्रिया वास्तविक है, तब जिसकी क्रिया असम्यक् है उसे प्रेम से उसके उपकार के लिये समझाना चाहिये। समझाने पर भी उसके पापोदय से यदि वह सत्य को स्वीकार नहीं करता है तो भी स्वयं को क्षुभित नहीं होना चाहिये, उसका बुरा न सोचना चाहिये न करना चाहिये। क्योंकि आत्महित करना सर्वश्रेष्ठ है, यदि आत्महित के साथ-साथ परहित होता है, तो करणीय है, अन्यथा जहाँ आत्महित नहीं है, वह कार्य त्यजनीय है, क्योंकि कुन्दकुन्द देव ने कहा था-

आदहिंदं कादव्वं यदि चेत् परहिंदं कादव्वं।  
आदहिंदं परहिंदादो आदहिंदं सुषु कादव्वं॥

इसलिये परोपकार के लिये भी राग, द्वेष, धृणादि करके स्वयं का उपकार करता है, वह कभी भी पर का उपकार नहीं कर सकता है। जैसे जो दीपक स्वयं प्रकाशित नहीं है, वह दूसरों को प्रकाशित नहीं करता है और न ही दूसरों को प्रज्ज्वलित भी कर सकता है, इसलिये बुद्ध देव ने कहा था-

‘आददीवो भवं परदीवो भव ।’

अर्थात् पहले स्वयं आदर्श बनो, प्रकाशित बनो, महान् बनो, धार्मिक बनो, सत्यग्राही, कर्तव्यनिष्ट, उदारचेता, समताधारी बनो, उसके बाद दूसरों को यह पाठ सिखाओ। इससे ही प्रकारान्तर से ‘जीओ और जीने दो’ कह सकते हैं।

विश्व में अनन्तानन्त जीव हैं और प्रथम गुणस्थान से लेकर अष्टम गुणस्थान के अधःकरण परिणाम तक प्रायः जीवों की भावना कुछ न कुछ रूप से पृथक्-पृथक् ही रहती है। इसलिये दूसरों को निमित्त करके स्वयं कषाय रूप परिणमन करना अविधेय है, अनैतिक हैं, अधार्मिक है। इसलिये कुंद-कुंद देव ने कहा है-

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हुवे लच्छि ।

तम्हा वयणविवाद सगपरसमयहिं वज्जज्ज्यो॥(१५६)

नि. सा.

अर्थात् संसार में नाना प्रकार के जीव हैं, उनके नाना प्रकार के कर्म हैं, इसलिये उनकी लच्छि/ बुद्धि/ भावना नाना प्रकार की होती है इसलिये वचन विवाद भी साधर्मि साधनों और विधर्मि से नहीं करना चाहिये क्योंकि जो आत्मनिष्ट होकर आत्म कल्याण करने में दत्तचित्त होता है, वही पंडित है, मनीषी है, तत्त्ववेत्ता है, भेद विज्ञानी है। जो केवल दूसरों को सुधार करने के बहाने से दूसरों की गलती को बार-बार उद्धाटन करना है, वह व्यक्ति गंदगी (शोच, मल) की दुर्गंधि को दूर करने के लिये उस गंदगी को हाथ से इधर-उधर फैलाता है, इससे दुर्गंधि तो दूर नहीं होती है, वरन् दुर्गंधि एवं गंदगी और भी फैल जाती है और उसका हाथ गंदगी से लिप्त हो जाता है। इसलिये नीतिकार ने कहा है-

परोपदेश पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।

धर्मस्वीय मनुष्यानां कस्यचित् महात्मनः।

तुलसीदास जी ने भी इसी सिद्धान्त को कहा है-

पर उपदेश कुशल बहु तेरे।

जो आचरेहि ते नर न घनेरे॥

एक कवि ने कहा भी है-

पण्डिताई पाले पड़ी पूर्वजन्म के पाप।

औरन को उपदेश दें कोरे रह गये आप॥

इससे सिद्ध होता है कि दूसरों को उपदेश देने के पहले स्वयं आचरण करना चाहिये, फिर उपदेश देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति का उपदेश कार्यकारी हो

सकता है अन्यथा आचारहीन वक्ता का उपदेश कभी-कभी लाभ के बदले हानिकारक भी होता है। एक बार कुछ विद्यार्थी महात्मा गांधी से आटोग्राफ माँगा महात्मा गांधी ने कहा-मेरा जीवन ही मेरा संदेश है। महात्मा गांधी के अनुयायी राष्ट्रीय संत विनोबा भावे कहते थे, मन भर चर्चा से कण भर चर्या श्रेष्ठ है।

मूलाचार में ज्ञान की परिभाषा तथा ज्ञान का फल बताते हुये कहा है-

जेण तच्चं विवुज्जोज्ज जेणं चित्तं णिरुज्जादि।

जेण अत्ता विसुज्जोज्ज तं णाणं जिणसासणो। (३६७)

पृ. २२३

जिसमें तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का रोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है, जिन शासन में उसका नाम ज्ञान है।

जेण रागा विरुज्जोज्ज जेणं सेहसु रज्जदि।

जेण मित्रीं पभावेज्ज तं णाणं जिण सासणो। (२६८)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिन शासन में वह ज्ञान कहा गया है।

उपरोक्त दोनों गाथाओं से यह सिद्ध होता है कि केवल तत्त्व का बोध आगम में ज्ञान नहीं है, इसके साथ-साथ जिससे मन का निरोध होता है, आत्म विशुद्धि बढ़ती है, आसक्ति से, भोग से, लोभ से विरक्ति होती है मोक्ष में अनुराग बढ़ता है और सर्वजीवों के प्रति मैत्री भावना जागृत होती है उसे जिन शासन में ज्ञान कहा गया है परन्तु वर्तमान में यह देखने में आता है कुछ व्यक्ति धार्मिक साहित्य पढ़ करके केवल धन बटोरने में लगे रहते हैं तो कुछ व्यक्ति उस ज्ञान से मदोन्मत्त होकर दूसरों को हीन दृष्टि से देखते हैं और कलह करते रहते हैं। कुछ व्यक्ति तो थोड़े ज्ञान को प्राप्त करके इतने उदण्ड, उत्थ्रुंखल, अनुशासन विहीन हो जाते हैं कि उनमें साधारण व्यक्तियों में रहने वाली शालीनता, नम्रता, उंदारचेता, भद्रता भी नहीं रहती है। वह व्यक्ति अपनी उस उत्थ्रुंखल प्रवृत्ति को सत्य ग्राहीता, आगमनिष्ठा एवं स्वतंत्रता मान लेता है।

धर्म स्वतंत्रता का पोषक है, स्वतंत्रता का दाता है, परन्तु धर्म कभी भी स्वच्छन्दता का समर्थक नहीं है। नम्रता, सदाचार, अनुशासन से रहित व्यक्ति का ज्ञान विषधर सर्प में रहने वाली मणि के समान है। जिस प्रकार मणि प्राप्ति की इच्छा से कोई विषधर सर्प को चाहेगा तो वह विषधर सर्प उसे काटकर खा जायेगा। इसी प्रकार दुर्जन ज्ञानी से ज्ञान प्राप्त करना मानो शारीरिक, नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मृत्यु को निमंत्रण देना है। इसीलिये चाणक्य ने कहा था-विद्या से अलंकृत दुर्जन को मणि से युक्त विषधर सर्प की तरह दूर से ही त्याग कर देना चाहिये।

मान लो, कोई धार्मिक व्यक्ति की क्रिया असम्यक् है और समझाने पर भी वह नहीं मानता है, तो साम्यभाव को धारण करना चाहिये, न कि उसे लेकर राग-द्वेष, कलह, वाद-विवाद करना चाहिये क्योंकि राग द्वेष में कदापि भी कथंचित् भी स्व-पर का इह लोक-परलोक कल्याण में नहीं है। इसलिए अमित गति सूरि ने विभिन्न जीवों के प्रति मुमुक्षु की किस तरह की भावना होनी चाहिये उसका सुन्दर वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है-

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,

क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।

माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ,

सदा ममात्मा विद धतुदेव॥(१)

विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव होनी चाहिये, गुणी के प्रति प्रमोद भावना होनी चाहिए, रोगी-दुःखी के प्रति करुणा की भावना होनी चाहिये, विपरीत आचरण करने वालों के प्रति माध्यस्थ/ तटस्थ/ समता भावना होनी चाहिये। परन्तु अभी पाया जाता है कि एक धार्मिक व्यक्ति को देखकर अन्य धार्मिक व्यक्ति नफरत करता है, धृणा करता है, द्वेष करता है। जिस प्रकार एक गली में दूसरी गली का कुत्ता आने पर उस आगन्तुक कुत्ता को उस गली का कुत्ता भौंकता है, काटता है और उस गली से खदेझकर ही रखता है। उसी प्रकार वर्तमान में कुछ अपने को धार्मिक मानने वाले व्यक्ति ऐसा करते हैं। सत्याग्रही के साथ-साथ नम्रता, सहनशीलता एवं समता होना भी अनिवार्य है। सत्याग्रही कभी भी अहंकारी एवं क्षुब्ध नहीं हो सकता। स्वयं

गुणी होते हुए भी गुणों के प्रति आदर होना एवं गुणग्राही बनना व्यक्ति की महानता है। जो स्वयं गुणी होकर भी दूसरों के गुणों को आदर नहीं देता है एवं स्वयं स्वीकार नहीं करता है, वह यथार्थ से गुणी नहीं है। नीतिकारों ने कहा भी है-

**निर्गुणः गुणं न वेत्ति गुणी गुणिषु च मन्यता।  
गुणी च गुणिषु शारी च सरला विरला जना।**

जो निर्गुण होते हैं, वे गुण को नहीं पहचानते हैं, इसलिये वे गुणों का आदर नहीं करते हैं परन्तु कुछ ईर्ष्यालु गुणी व्यक्ति होते हैं, वे गुणों को देखकर डाह करते हैं। परन्तु जो यथार्थ गुणी होकर सरलता रूप से दूसरे गुणी के प्रति आदर, सत्कार, प्रेमभाव रखते हैं ऐसे व्यक्ति अत्यन्त विरल होते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त धर्म होने से उसका पूर्ण परिज्ञान केवलज्ञान होने के बाद ही हो सकता है। परन्तु उसका कथन तो सर्वज्ञ भगवान् भी एक साथ पूर्ण रूप से नहीं कर सकते हैं, इसलिये सर्वज्ञ भगवान की दिव्य-ध्वनि भी सापेक्ष सहित एवं अनेकान्तात्मक होती है। इसलिये सामान्य ज्ञानियों को सत्यग्राही होना चाहिये, परन्तु हठग्राही नहीं होना चाहिये। सामान्य ज्ञानी जब हठग्राही हो जाता है, तब उसका परिणाम क्या होता है? इसको स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्राचीन कथनानुसार एकदा राजहंस मानसरोवर से उड़कर अन्य स्थानान्तर को जाने के समय में एक कूप के पास पहुँच गया। उस कूप में स्थित मण्डूक ने जो स्वयं गुणी होते हुए भी गुणों के प्रति आदर होना एवं गुणग्राही बनना व्यक्ति की महानता है। हंस के निवास स्थान के बारे में पूछने पर हंस से कहा- मेरा निवास स्थान मानसरोवर है। मण्डूक ने दोनों हाथ फैलाकर पूछा- कि इतना बड़ा है? हंस ने कहा- इससे बहुत बड़ा है। तब मण्डूक उस स्थान से कूदकर अन्य स्थानों को गया और कहा कि इतना बड़ा है? हंस ने कहा- इससे भी बहुत बड़ा है। तब मण्डूक ने पूछा कि मेरे इस कूप से भी बड़ा है क्या? हंस ने कहा- इससे बहुत बड़ा है। तब मण्डूक ने हंस को डाँटकर कहा कि- इससे कदापि बड़ा नहीं हो सकता। हंस ने मण्डूक की अल्पज्ञता के ऊपर मन में बहुत दुखित होकर एवं उसको समझाने में स्वयं को असमर्थ समझकर

वहाँ से उड़ गया। इसलिये पूर्व नीतिकारों ने कहा है-

**अज्ञः सुखमाराध्य सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।**

**ज्ञानलवदूर्विदृढं ब्रह्मापि तं नशं न रंजयति॥३**

(भर्वृहुरि नीतिशतक)

नासमझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है, परन्तु जो न समझदार हैं, न नासमझ हैं, ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं।

प्राचीन नीतिकारों ने भी हठग्राहिता रूप एकांतपक्ष को मिथ्या कहा है। उसको एक सुन्दर सरल उदाहरण के द्वारा समझाते हैं। एकदा एक ग्राम में एक बड़ा हस्ति आया था, उसको देखने के लिए अन्य-अन्य व्यक्ति को जाते हुए जानकर सात जन्मांध बालक भी गये थे। चक्षु के अभाव के कारण वे बालक हाथ के स्पर्श के द्वारा हाथी के एक-एक अवयव को स्पर्श करके लौट गए। अनन्तर हाथी के विषय में अपने-अपने विचार रखे। एक ने हाथी को झाड़ू के समान बताया, उस समय दूसरे एक बालक ने उसका तिरस्कार करते हुए कहा कि हे मूर्ख! हाथी कभी झाड़ू के समान हो सकता है? हाथी तो स्तंभ के समान है। उस अवसर पर अन्य बालक ने पूर्वोक्त दोनों बालकों का तिरस्कार करते हुए कहा कि हे मूर्खों! हाथी न तो झाड़ू के समान है, न स्तंभ के समान है, वह तो सूप के समान है। इस प्रकार सातों बालकों के परस्पर कलह को देखकर एक ज्ञानी व्यक्ति ने आकर कलह का कारण पूछा। तब सातों बालकों ने अपनी-अपनी हस्ति सम्बन्धी धारणा कही। समस्त विषय को अवगत करके उस ज्ञानी व्यक्ति ने सम्पूर्ण हस्ति के विषय में बताया। हस्ति, पूँछ की अपेक्षा झाड़ू के समान न है, कि सम्पूर्ण हस्ति की अपेक्षा है। सम्पूर्ण हस्ति तो बहुत विशाल है। पूँछ की अपेक्षा हस्ति झाड़ू के समान होते हुये भी है, सम्पूर्ण की अपेक्षा हाथी को झाड़ू मान लेना मिथ्या है। इस प्रकार अन्य-अन्य उपांगों की अपेक्षा हस्ति विभिन्न आकार का होने पर भी सम्पूर्ण हस्ति एक अवयव स्वरूप है।

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि भावों की संकीर्णता, ज्ञान की न्यूनता, अनुभव की हीनता से जीव हठग्राही, अहंकारी, धूर्त, क्रूर, हिंसक,

पर निन्दकादि दुर्गुणों से युक्त हो जाता है। जीव जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब उसके भाव में उदारता, सत्यग्राहीता, नप्रता, सरलता, समता, दया, परोप-कारादि गुण प्रगट हो जाते हैं। इसलिये तो सम्यग्दर्शन। सत्यार्थ-दृष्टि/ सत्य-प्रतीति/ साम्य-दृष्टि को धर्म का मूल, मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि जब तक जीव को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती है, तब तक सत्य स्वरूप/ धर्म स्वरूप/ आत्मस्वरूप का ज्ञान/ भान/ मान नहीं होता है, जिसके कारण जीवधर्म के विरुद्ध ही जानता है, मानता है, आचरण करता है। अधर्मी/ मिथ्यादृष्टि का बहुत ही मार्मिक व्यावहारिक पक्षों का वर्णन आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने रथण सार में निम्न प्रकार से किया है-

एवि जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्ण पावं हि।  
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को॥(४०)

(रथण सार, पृ. १०५)

जो कार्य-अकार्य क्या है, हितकारी और अहितकारी क्या है, पुण्य क्या है और पाप क्या है, धर्म और अधर्म क्या है, तत्त्व किनको कहते हैं और अतत्त्व किनको इनके ज्ञान विवेक से रहित हैं, वे मानव सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि हैं।

उठ्गो तिव्वों दुट्ठो दुब्भावो दुस्सुदो दुरालावो।  
दुम्मइरदो विरुद्धो सो जीवों सम्म उन्मुक्को॥(४३)॥

उग्र, तीव्र, दुष्ट, दुर्भावना वाला, दुश्वत, मिथ्या भाषण करने वाला, दुर्मति में लीन, विरुद्ध वह जीव सम्यक्त्व गुण से उन्मुक्त है।

खुदो रुदो रुट्ठो अणिट्टिपिसुणो सगन्वियोसूयो।  
गायण जायण भंडण दुस्सण सीलोदु सम्मउम्मुक्को॥(४४)॥

क्षुद्र, खोटे आचरण करने वाला, रौद्र परिणाम वाला, कषाय संयुक्त, रुष्ट गुस्सा करने वाला क्रोधी, अनिष्ट वैर विरोध करने वाला, चुगलखोर-एक-दूसरे के साथ में भिड़ाने वाला, अभिमान करने वाला, ईर्ष्या करने वाला, खोटा गाना गाने वाला, याचना करने वाला, परस्पर झागड़ा करने-करने वाला और अनेक दूषणों का धारक इन कहे हुए परिणामों वाला प्राणी सम्य-

क्त्व गुण से रहित है, ऐसा समझना चाहिए।

वाणरगद्धहुसाण ग्रय वर्णघ वराह कराह।  
पद्धित जल्य सहावणर जिणवर धम्म विणासु॥(४५)

बंदर, गर्दभ, कुत्ता, हाथी, व्याघ्र, सूकर, ऊंट, पक्षी, जलोक स्वभाव वाले मानव जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए मार्ग के विनाश करने वाले हैं।

सम्माइट्टी कालं खवद् वैरथगणाण भावेहि।  
मिच्छाइट्टी वांछा दुभावालस्य कलहेहि॥(४७)

सम्यग्दृष्टि वैराग्य, ज्ञान भाव से समय बिताता है और मिथ्यादृष्टि आकांक्षा, दुर्भावना, आलस्य में, कलहों में समय बिताता है।

अज्जववसप्पिणीभरहे पउरा रुद्धुज्जाणयादिट्टा।  
णट्टा दुट्टा कट्टा पाविट्टा किणहुणीलकाउदा॥(४८)

आज इस अवसर्पिणी काल और भरत क्षेत्र में बहुत मानव आर्त ध्यानी, रौद्र ध्यानी, नष्ट बुद्धि, दुष्ट, कष्ट, पापिष्ठ, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के धारक देखे जाते हैं।

अज्जववसप्पिणी भरहे पंचमयाले मिच्छ पुव्या सुलहा।  
सम्मत्त पुव्य सायार णयारा दुल्लहा होति॥(४९)

इस अवसर्पिणी के भरत क्षेत्र में पंचमकाल में गृहस्थ और मुनि मिथ्यात्व सहित तो सुलभता से प्राप्त हो सकेंगे। सम्यक्त्व सहित गृहस्थ, श्रावक और ग्रन्थ से रहित अनगर दुर्लभता से प्राप्त होते हैं, अथवा दुर्लभ हैं।

कुछ व्यक्ति दिखावा रूप में धर्म करेंगे, दान करेंगे परन्तु उनका आचरण बगुला के समान रहता है, जिस प्रकार बगुला दिखने में सफेद रहता है, एक टाँग पर खड़ा रहकर ध्यान करने का बहाना करता है परन्तु मछली आने पर पकड़कर ‘ओम् स्वाह’ कर लेता है, उसी प्रकार ‘गोमुख व्याघ्र’ वाले बगुला भगत लोग “मुख में राम नाम, बगल में छुरी” का काम करते हैं। दिखाने के लिये वे ऊपर-ऊपर से धर्म सेवा करते हैं, परन्तु अंतरंग से वे अपना निहित स्वार्थ की सिद्धी धर्म से करते हैं, जिस प्रकार हिन्दु धर्म के अनुसार मामा शकुनी दिखावे के लिये कौरवों का उपकार करता था, उनका पक्ष लेता था,

परन्तु अंतरंग से उनका विनाश चाहता था। ऐसे व्यक्ति गोबर को छुएंगे तो नहीं, गोबर को डॉटते (लांघते) चलेंगे, परन्तु मल को शरीर पर लगायेगे। अनेक व्यक्ति पूजा में चढ़े हुए द्रव्य को छुएंगे तक नहीं, कारण वशातः हाथ लगने पर हाथ धोयेंगे, परन्तु धर्म की लाखों करोड़ों की सम्पत्ति को हड्प लेंगे। उनका मत है कि हम तो धर्म का खाते हैं, अर्धम् का नहीं खाते अर्थात् यह धर्म की सम्पत्ति है इसे हड्पने में कोई दोष नहीं हैं परन्तु जो धार्मिक सम्पत्ति का प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये करता है, वह “महानिर्मल्य-भक्षी” है। ऐसा व्यक्ति महान् पाप का बन्ध करता है और वह इहलोक परलोक में विभिन्न प्रकार के कष्ट भोगता है। ‘रथण सार’ में कहा है-

जिणुद्धार पतिटुा जिणपूजा तित्थवंदण विसय धॄणं।  
जो भुंजहु सो भुंजहु जिणादिटुं णरयगडुकखं।(३२)

पृ. १५ रथणसार

जीर्णोद्धार, जिन बिम्ब की प्रतिष्ठा, भगवान् की नित्य प्रभात में होने वाले अभिषेक-पूजा, संघ की, तीर्थ क्षेत्रों की वन्दना के निमित्त अन्य भी धर्मानुष्ठान के लिये दान दिये गये धन को जो खा लेता है, वह प्राणी जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है कि नरकगति के दुःखों का भोग करता है।

पुत्तकलत्तविदूरो दारद्वो पंगु मूक महुरंधो।  
चाण्डालाइ कुजाइ पूजादणाइ दव्वहुरो।(३३)

जिन बिम्ब पूजा जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठादि के लिये दिए गए द्रव्य को अपहरण करने वाला चाण्डाल, चमार, धोबी, खटीक, सवर, धानुक इत्यादि नीच जातियों में उत्पन्न होता है। स्त्री, पुत्र, भाई, माता-पिता इत्यादि उसका त्याग कर देते हैं अथवा घर से निकाल देते हैं। धनहीन, दरिद्री, लंगड़ा, गूंगा, बहरा, नेत्र विहीन होता है।

इच्छियफलं ण लब्धइ जइलब्धहु सो ण भुंजदे णियदं।  
वाहीणमायरो सो पूजादणाहु दव्वहुरो।(३४)

वह जिन बिम्ब की पूजा प्रतिष्ठा, रथयात्रा, जीर्णोद्धार, संघ की व्यवस्था के लिये दान में दिये गये द्रव्य को ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपने इच्छित फल को प्राप्त नहीं होता है, यदि कुछ मिल जाता है, उसका वह भोग नहीं कर

सकता है, क्योंकि विशेष शरीर में रोगों के हो जाने के कारण वह रोगों का खजाना बन जाता है।

शयहृथपात्यणासिय कण्णउंग्नुल विहीणदिट्टुए।  
जो तिव्वदुकख मूलो पूया दाणाहु दव्वहुरो।(३५)

पूजा और द्रव्य का अपहरण करने वाला व्यक्ति हाथ रहित, पैर रहित, पंगु, नाक रहित, कानो रहित, बूचा, छाती, हाथ-पैरों की अंगुलियों से रहित होता है, जन्म से ही अन्धा होता है, जो तीव्र दुःखों का कारण है ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है।

खय कुटु मूलसूलो लूय भयंदए जलोयरकिखसरो।  
स्त्रीदुण्ड वाहिराई पूयादणांतराय कम्मफलं ।(३६)

जो भव्य भगवान् की पूजा, रथयात्रा, जलयात्रा, तीर्थयात्रा, जीर्णोद्धार जिन बिम्ब प्रतिष्ठा इत्यादि धार्मिक कार्यों में बाधा ढालता है, वह प्राणी क्षयरोग, कुष्ठरोग, मूल व्याधि और सूल रोग, भगंदर, जलोधर, खिसर, शीत उष्ण इत्यादि रोगों के समूह को प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए एक कहानी यहाँ लिखना उपयुक्त समझता हूँ-

एक ढोंगी साधु था, उन्होंने अनेक अशर्कियाँ एक लाठी में भरकर के रखी थीं, एक ठग को इस बात का पता चल गया, उन अशर्कियों को उठाने के लिए उसने एक उपाय सोचा। वह साधु के पास आकर रहने लगा व उनकी सेवा करने लगा। बाह्य व्यवहार से एक सच्चा शिष्य बन गया, परन्तु अंतरंग में ठग ही रहा। एक दिन दोनों गुरु-शिष्य तीर्थ यात्रा के लिए निकले। रात को एक घर में ठहरकर सुबह यात्रा के लिए निकल पड़े। कुछ दूर जाने के बाद वह ठग शिष्य कहता है कि मुझे पुनः उनके घर जाता है। गुरु पूछते हैं कि वापिस जाने का क्या कारण है। शिष्य कहता है कि मेरे सिर के बाल में उस घर का तिनका लग करके आ गया है, इसीलिए मुझे इसको वापिस करने के लिए जाना है, क्योंकि दूसरों का तिनका भी लाना चोरी है। वह ठग उस तिनका को वापिस करने के लिए उसके घर पर जाता और देकर वापिस आता है, इससे उस साधु का विश्वास पक्षा हो गया कि जो एक तिनके की चोरी नहीं कर सकता है, तो

वह अन्य मूल्यवान चीजों, अशर्कियों की चोरी किस प्रकार कर सकता है। इसीलिए वह साधु अशर्कियों से भरी हुई लाठी कभी-कभी उस ठग के पास छोड़कर जाने लगा। मौका पाकर वह ठग सब अशर्कियों को लेकर चंपत हो गया। इसी प्रकार व्यक्ति बाहर में तो महान् धार्मिकों के समान कार्य करेंगे और अंतरंग में धूर्त, ठग, बदमाश रहेंगे। दूसरों के ऊपर विश्वास जमाने के लिए वे छोटी-छोटी चोरी नहीं करेंगे, परन्तु धर्म की, समाज की, राष्ट्र की लाखों सम्पत्ति को निगल जायेंगे या चंपत कर लेंगे। ऐसे ही धर्मध्वज, धर्म के टेकेदारों से धर्म की अप्रभावना होती है तथा धर्म की क्षति होती है।

कुछ व्यक्ति धर्म को लेकर वाद-विवाद, कलह करते हैं और वे ऐसे कार्य करते हुए भी स्वयं को महान् धार्मिक मानते हैं, वे नहीं सोचते हैं कि इससे धर्म की, स्व पर महान् क्षति होती है। इसको स्पष्टीकरण करने के लिए एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। एक गुरु के दो शिष्य थे, एक दिन दोनों गुरु के एक-एक पैर की सेवा कर रहे थे। सेवा करते-करते दोनों में वाद-विवाद हो गया कि यह पैर मेरा है, वह पैर तेरा है। वे इस वाद-विवाद में इतने कुद्दू एवं क्षुभित हो गये कि एक शिष्य ने दूसरे पैर को चोट पहुँचाई और दूसरे शिष्य ने कहा कि यह पैर मेरा है, तुमने इसे चोट पहुँचाई मैं तुम्हारे बाले पैर को तोड़ दूँगा और क्रोधित होकर एक पत्थर लेकर पैर को तोड़ डाला। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए अपने पक्ष को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए हठग्राही बनकर धर्म को भी क्षति पहुँचाते हैं। वे दोनों शिष्यों के समान नहीं सोचते हैं कि धर्मात्मा को कष्ट देना साक्षात् धर्म को ही कष्ट देना है। भले दोनों शिष्य दोनों पैरों की अलग-अलग सेवा कर रहे थे, लेकिन दोनों पैर गुरु के ही थे, परन्तु दोनों शिष्य जिस प्रकार अविवेकी होकर पैर को ही तोड़ डाले, इसी प्रकार के अविवेकी व्यक्ति धर्म की सेवा के बहाने धर्म को ही क्षति पहुँचाते हैं अधिकांशतः धर्म के टेकेदार लोग ऐसे होते हैं। जिस प्रकार कुछ नेता देश-सेवा का उपदेश करते हैं, उसका ढोंग भी मचाते हैं, लेकिन देश का शोषण करते हैं, देश को क्षति पहुँचाते हैं, उसी प्रकार कुछ समाज, संस्था, मंदिर, धर्मशाला आदि के प्रमुख व्यक्ति ही धर्म की सेवा के नाम पर धर्म की आड़ में ही धर्म को क्षति पहुँचाते हैं।

## अध्याय २

### ये कैसे पूजा, दानादि....?

प्राथमिक धार्मिक व्यक्ति (पूजक) आध्यात्मिक पूर्ण विकसित या विकासशील आत्मा को आदर्श/पथप्रदर्शक/ पूज्य मानकर उस के गुणों की उपलब्धि के लिये प्रार्थना/ पूजा/ आरती आदि करता है। यदि वह परिग्रह धारी पूजक (अविरत सम्यग्वृष्टि, श्रावक) है तो वह अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति के लिये, वृद्धि के लिये तथा लोभप्रवृत्ति/ संग्रहवृत्ति को कम करने के लिए मन को एकाग्र करने के लिये यथाशक्ति आगमोक्त शुद्ध प्रामुक द्रव्यों के आवलम्बन से पूजा करता है। सच्चे पूज्य के साथ-साथ पूजक (भक्त, यजमान) को भी सच्चा/ आदर्श होना चाहिये। उनके निमोक्त गुण होना चाहिये।

विनीतो बुद्धिमान् प्रीतो न्यायोपात्तथनो महान्।  
शीलादि गुण सम्पत्तो यष्टा सोऽत्र प्रशस्यते॥

अर्थात् विनयवान्, बुद्धिमान्, प्रीतियुक्त, न्याय से धन उपार्जन करने वाला, शीलादिगुणों से संयुक्त यजमान (विधान करने वाला) प्रशंसनीय है। तथा-

न्यायोपजीवी गुरुभक्तिधारी, कृत्सादिहीनो विनयप्रपत्तः॥  
विप्रस्तथा क्षत्रियवेद्यवर्गो व्रत क्रिया वन्दनशीलपात्रः॥  
श्रद्धालुदावृत्वमहेच्छुभावो ज्ञाता श्रुतार्थस्य कषायहीनः॥  
कलंकपंकोन्मदतापवाद्- कुकर्मदूरोऽहृदुदार- बुद्धिः॥

अर्थात्- न्यायमार्ग से आजीविका करने वाला, गुरु का भक्त, निन्दादिक अपवादों से रहित, विनय-सम्पत्त, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्गों में से यानी द्विज, क्रिया वन्दना आदि में सावधान, शील का पात्र, श्रद्धालु, उदार दाता, महान् कार्य का इच्छुक, शास्त्र का ज्ञाता, कषाय रहित, कलंक पंक से रहित, मद उन्माद से रहित, कुकर्म से रहित और अर्हद्वर्म का श्रद्धालु उदार बुद्धि ऐसा यजमान होना चाहिए।

पूजा एक आध्यात्मिक, वैज्ञानिक प्रणाली है। सामान्यतः पूजा के चार भेद हैं। यथा- (१) पूजा, (२) पूजक, (३) पूज्य, (४) पूजाफल। श्रीमत जिन सेन आचार्य ने चारों की परिभाषा निम्न प्रकार दी है।-

**स्तुति पुण्य गुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।  
निष्ठितार्थो भवां स्तुत्यः फलं नैत्रेयसं सुखम्॥**

पुण्यमय आदर्शगुणों के कीर्तन प्रशंसा, गुणगान को स्तुति/ अर्चना, प्रार्थना/ पूजा कहते हैं। आदर्श गुणानुरागी भव्य प्रसन्नमन वाला स्तुता/ स्तुति करने वाला अर्थात् पूजक है, परम पुरुषार्थ रूप अमृत स्वरूप पूर्णवस्था को प्राप्त कर लिया है ऐसे परम ब्रह्मस्वरूप शुद्धात्मा स्तुत्य। पूजनीय है। स्तुति, पूजा, प्रार्थना का फल नैत्रेयस सुख है।

जिस प्रकार चुम्बक के घर्षण के माध्यम से लोहा चुम्बक बन जाता है उसी प्रकार पूजक भी पूजा के माध्यम से पूज्य बन जाता है। परन्तु यदि पूजक में योग्यता नहीं है तब वह पूजक नहीं बन सकता है, जैसे लोहे में जंग लगा हुआ है, तो चुम्बक के घर्षण से भी वह लोहा चुम्बक नहीं बन सकता। पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, ऐसी किंवदन्ती है। परन्तु यदि लोहे में जंग लगा हुआ है तो वह लोहा सोना नहीं बन सकता है। इसको समझाने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ ?-

एक बार एक भिखारी राजा के दरबार में भीख माँगने जाता है। राजा सोचता है कि मेरे राज्य में भिखारी होना मेरे लिए कलंक स्वरूप है, इसलिए राजा उस भिखारी को एक पारसमणि देते हुए समझाते हैं कि यह एक अमूल्य मणि है, लोहे के साथ इसका स्पर्श करने से लोहा सोना बन जाता है। तुम इसे लेकर लोहे को सोना बनाना, जिससे तुम सप्तन्न हो जाओगे और तुम्हें भीख माँगने की आवश्यकता नहीं रहेगी। वह भिखारी पारसमणि को लेकर घर में जितना लोहा था, उसे इकट्ठा करके मणि से स्पर्श कराता है, परन्तु एक भी लोहा सोना नहीं बनता है, भीख मांगकर के लोहा खरीद करके उसे मणि से स्पर्श कराता है, परन्तु एक भी लोहा सोना नहीं बनता है। कुछ दिन बाद वह भिखारी राज दरबार में पुनः जाता है, राजा उसका फटा हाल देखकर पूछता है कि तुम लोहे को सोना बनाकर धनी क्यों नहीं बने, गरीब ही गरीब रहे। वह

भिखारी बोलता है कि मैंने अनेक लोहा इकट्ठा किया और उस मणि का उससे स्पर्श किया, परन्तु एक भी लोहा सोना नहीं बना। राजा को अविश्वास एवं आश्चर्य हुआ वे उस मणि की असलियत की परीक्षा करने के लिए उसके घर पर जाते हैं, तब वे देखते हैं कि लोहे के ढेर पर वह पारसमणि पड़ी हुई है। वहाँ जाकर मणि को देखते हैं, तो मणि सही है, पुनः लोहे को देखते हैं, तो लोहे में जंग लगा हुआ है। एक लोहा को उठाकर उसका जंग हटाकर पारसमणि के साथ स्पर्श करते हैं तो लोहा सोना बन जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जंग लगा हुआ लोहा पारसमणि के सम्पर्क से भी सोना नहीं बनता है, उसी प्रकार भक्त के भाव में यदि क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि रूप जंग लगा हुआ है, तो ऐसा भक्त (पूजक, पूजा करने वाला) कभी भी भगवान् की भक्ति, पूजा आरती से भी लाभान्वित नहीं हो सकता है, उसका उद्धार नहीं हो सकता है और वह भगवान् नहीं बन सकता है। पूर्वाचार्यों ने भी कहा है-

**आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि  
नूनं न वेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।  
जातोऽस्मि तेन जनन्बान्धव! दुःखपात्रं  
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः।(३८)**

हे भगवान् ! मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये, फिर भी दुःख मेरा पिंड नहीं छोड़ते, उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है कि मैंने भक्तिपूर्वक आपका ध्यान नहीं किया। केवल आडम्बर रूप से ही उन कामों को किया है न कि भावपूर्वक भी। यदि भाव से करता है तो कभी दुःख नहीं उठाने पड़ते।

यादुशी भावना यस्य सिद्धिं भवति तादुशी।

अर्थात् जिस प्रकार भावना होती है, उसी प्रकार सिद्धि होती है, क्योंकि 'भावना भव नाशनी, भावना भववर्धनी' अर्थात् पवित्र भावना से भव का नाश होता है, तो दूषित भावना से भव की वृद्धि होती है। इसलिए पूजक को, धार्मिक व्यक्ति को हर समय हर तरह से भाव को संभालना चाहिए व परिमार्जित करना चाहिए। पूजा, अर्चना, दान, तीर्थ यात्रा, स्वाध्याय आदि का परम लक्ष्य आत्मा को निर्मल बनाना है और मोक्ष प्राप्त करना है, उसका आनुसंगिक फल पुण्य उपार्जन है, जिसका फल संसार की विभूति, सम्पत्ति

है। परन्तु जो सम्पत्ति, पुत्र प्राप्ति, केश में जययुक्त होना, शत्रु को कष्ट पहुँचाना आदि क्षुद्र लौकिक सिद्धि के लिये तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्ति, भोग प्राप्ति व स्त्री प्राप्ति आदि के लिए पूजा, दान आदि करता है, तो उसका भाव दूषित, उद्देश्य क्षुद्र होने के कारण यथार्थ नहीं है। निदान करने से फल की उपलब्धि भी कम हो जाती है, इसलिए प्रत्येक धार्मिक कार्य पवित्र उद्देश्य से पवित्र साधनों से ही सम्पादन होना चाहिए। भोग, धन, स्त्री, पुत्र आदि की कामना से धर्म करना जैसे भीख माँगना है। धर्म भक्त को भगवान् बनाता है, परन्तु भक्त को भिखारी नहीं बनाता है। धर्म के नाम पर भीख माँगना भी हेय है, भिखारीपना है, इसलिए त्यजनीय है। कवि ने कहा भी है-

माँगन मरण समान हूँ, मत माँगो कोई भीख।  
माँगन से मरना भला, यह सतगुरु की सीख।  
बिन माँगो मोती मिले, माँगो मिले न भीख।  
बिना माँगो दूध बराबर, माँगो मिले सो पानी।  
कबीर वह हूँ खून बराबर, जामे खींचा तानी।

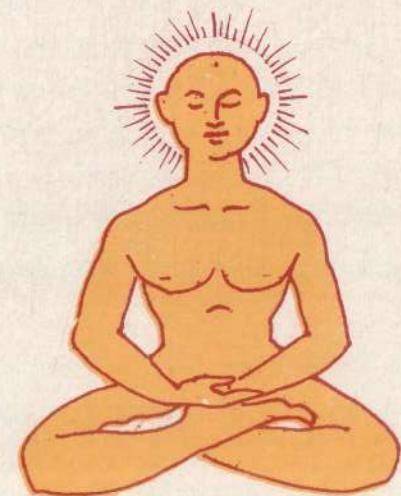
जो दान करने के लिए भी अन्याय से धन उपार्जन करता है, वह भी अधार्मिक अज्ञानी है, क्योंकि उसका साधन अपवित्र है, इतना ही नहीं, वह उस धन से वस्तुतः धर्म नहीं चाहता है, प्रसिद्धि, कीर्ति, नाम चाहता है, क्योंकि वास्तविक धार्मिक व्यक्ति धर्म का स्वरूप उसका साधन एवं उसका उद्देश्य जानता है। धर्म आत्मा का स्वरूप है, आत्मा ही उसका साधन एवं सिद्धि है। अन्याय से उपार्जित धन से धर्म चाहने वालों के लिये पूज्यपाद स्वामी ने निम्न प्रकार चेतावनी दी है-

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।  
स्वशारीरं सपंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति। (१६)  
पृ. १७ इष्टोपदेश

जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसलिये दान करने के लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है।

जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन

## धार्मिक क्षेत्र में धर्म के नाम पर लोग झगड़ा करते हैं।



पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्रदानादि करने के लिए धन कमाना चाहिये, नौकरी खेती आदि करने धन कमाता है, समझना चाहिये, कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता। स्पष्ट बात यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को स्नान कर लूँगा का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्र दानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये, हुये धन की प्राप्ति हो जाय, तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करो।

"सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गंदले पानी से भी भरी रहती हैं।"

उपर्युक्त कारणों से सिद्ध होता है कि पूजक को पहले स्वयं में योग्यता लानी चाहिए। श्रावक के कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए कहा भी है-

न्यायोपान्तर्धनो याजन् गुणगुस्त्वा॑ सदृशीस्त्रिवर्गं भजन्ते  
न्योन्यानुशुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो हीमयः।  
युत्काहारविहारार्थसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी  
शृणवन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्॥

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला गुणों, गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजने वाला, आदर, सत्कार करने वाला परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए धर्म, अर्थ और काम का सेवन करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्नी, गाँव, नगर और मकान वाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार खान-पान और गमनागमन करने वाला सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये गये उपकार को मानने वाला, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को प्रतिदिन सुनने वाला, दयालु और पापभीरु पुरुष गृहस्थ धर्म

को पालन करने में समर्थ होता है

उपर्युक्त श्रावकों के गुण में प्रथम गुण है “न्यायपूर्वक धन कमाना” श्रावक जेहेतु गृह में रहता है व्यापार धन्धा करना है इसलिए उसको धन की आवश्यकता पड़ती है। तथापि धनार्जन असत् उपायों से नहीं करना चाहिए।

स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासधात, ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों में धनोपार्जनरहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वही गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है। क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायः कर वित्तोपार्जन में ही लगी रहती है। इसलिये धनेच्छुक मनुष्य यद्वा तद्वा न्याय अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं। उनकी मनोभूमि एकदेशब्रत पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जन किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा है।

सर्वत्र शुचत्रो धीराः सुकर्मबलगर्विताः ।

स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः ॥

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहाँ पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं। और भी आचार्यों ने कहा है-

अन्यायोपार्जितं वित्त दशा वर्षणि तिष्ठति ।

प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यमति ॥(१)॥

यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यचोऽपि सहायतां ।

अपथानं तु गच्छन्तं सोदशोऽपि विमुच्यति ॥(२)॥

सा.थ.पृ. १७

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक रह सकता है और यारहवें वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यच भी सहायता करता है और अन्यायपूर्वक

प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है। दूसरे की तो ग्रात ही क्या है। इसलिये न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिये।

परन्तु वर्तमान में प्रायः दिखाई देता है कि अनेक लोग अनैतिक व्यापार हिंसात्मक व्यापार, निषिद्ध व्यापार आदि करके धन कमाते हैं और उससे दानादि करके धर्म करना चाहते हैं। जैसे कुछ व्यक्ति स्वयं तो शराब नहीं पीते किन्तु शराब की फेक्ट्रीयाँ, दुकानें चलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं तो बीड़ी नहीं पीते परन्तु बीड़ी की फेक्ट्री में बीड़ी बनवाते हैं व दुकान पर बेचते हैं। कुछ व्यक्ति खुद तो मांस नहीं खाते किन्तु डालडा में चर्बी मिलाकर दुसरों को खिलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं चर्म निर्मित वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते परन्तु चर्म की विभिन्न सामग्रियाँ यथा जूते, चप्पल, बेल्ट, सूटकेस, मनी बैग आदि का निर्माण करके विक्रय करते हैं। वे सोचते हैं कि हम तो स्वयं नहीं खाते प्रयोग में भी नहीं लाते, हम तो केवल धन कमाने के लिये, व्यापार रूप में प्रयोग लाते हैं इसमें हमारा क्या दोष? परन्तु उन्हें जान लेना चाहिये कि केवल पाप कृत रूप में नहीं होता है परन्तु पाप मनसा, वचसा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना से भी होता है। उनका सोच ऐसा है कि हम विष पीते नहीं पिलाते हैं। यह क्या दोषकारक है? परन्तु विवेक से विचार करने पर सिद्ध होता है कि विष पीने से तो स्वयं की एक ही हत्या होती है परन्तु विष पिलाने से अनेक व्यक्तियों की हत्या होती है। इसी प्रकार मांस खाने से, बीड़ी, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से तो स्वयं पाप कमाता है परन्तु इसके उत्पादन एवं विक्रय करने से तो स्वयं भी पाप कमाता है एवं दूसरों से भी पाप करवाता है, हिंसा करवाता है। इन हिंसात्मक व्यापारों से हिंसा के साथ- २ पर्यावरण भी दूषित हो जाता है। विश्व में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हिंसा व अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिये उपर्युक्त निषिद्ध व्यापार जो करता है वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। प्राचीन धार्मिक साहित्य में अनेक निषिद्ध व्यापारों का वर्णन पाया जाता है-। यथा-

ब्रतयेत्वरकर्मात्रं मलान् पंचदशा त्यजेत् ।

वृत्तिं वनाशन्यस्फोटभाटकैर्यत्रपीडनम् । (२१)

सागर धर्मामृतम् पृ. २८०)।

निर्लाच्छनासतीपोषौ सरः शोषं दवप्रदाम्।  
विषलाक्षादन्तकेशासवाणिज्यमंगिस्कृ। (२२)।  
इति केचिन्त तच्याठ लोके सावद्यकर्मणाम्।  
अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति (२३)

प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले व्यापार को खरकर्म अर्थात् क्रूरकर्म कहते हैं, इनका त्याग करना चाहिये। इस ब्रंत का नाम खरकर्म भोगपभोग-त्यागब्रत है। इनके १५ अतिचार हैं, उनका भी त्याग करना चाहिये। उन १५ अतिचारों का खुलासा पृथक् - २ इस प्रकार है-

१. वनजीविका :- स्वयं दूटे हुये अथवा तोड़कर वृक्ष आदि वनस्पति का बेचना, अथवा गेहूँ आदि धान्यों का पीस कूटकर व्यापार करना।

२. अग्रजीविका :- कोयला को तैयार करना। यह आजीविका षट्कायक जीवों की विराधना के लिये हेतु है।

३. अनोजीविका :- स्वयं गाड़ी, रथ तथा उसके चका वगैरह बनाना अथवा दूसरों से बनवाना, गाड़ी जोतने का व्यापार, स्वयं करना तथा दूसरों से कराकर आजीविका करना, गाड़ी आदि बेचने का धन्धा करना अनोजी-विका हैं। इस आजीविका से बैल आदि को बन्धन में रखना पड़ता हैं तथा इन वाहनों के द्वारा बहुत से प्राणियों का उपर्युक्त होता हैं।

४. स्फोटजीविका :- पटाखे व आतिशबाजी आदि बारूद की चीजों से आजीविका करना स्फोटजीविका हैं। इस कर्म से भी षट्कायिक जीवों का घात होता है।

५. भाटक जीविका :- गाड़ी, घोड़ा आदि ये बोझा ढोकर जो भाड़े की आजीविका की जाती है वह भाटकजीविका कहलाती है।

६. यंत्रपीड़न :- तेल निकालने के लिये कोल्हू चलाना, सरसों, तिल आदि को कोल्हू में पिलवाना, तिल वगैरह देकर उनके बदले में तेल लेना, यह सब यन्त्रपीड़न कहलाता है। इस व्यापार में तिलादिक में रहने वाले जीवों का घात होता है इसलिये यह भी दुष्टकर्म खरकर्म है।

७. निर्लाच्छनकर्म :- बैलों आदि की नाक आदि छेदने का धन्धा करना

अर्थात् नितरां लाच्छन अर्थात् शरीर के अवयव के छेदन को निर्लाच्छन कर्म कहते हैं।

८. असतीपोष :- हिंसक प्राणियों का पालन - पोषण करना और किसी प्रकार की भाड़े की उत्पत्ति के लिये दास और दासियों का पोषण करना असतीपोष कहलाता है।

९. सरःशोष :- अनाज बोने के लिये जलाशयों से नाली खोदकर पानी निकालना सरःशोष कहलाता है। इससे जलकाय, जलचर, त्रस और जलाश्रित ६ कायिक जीवों की विराधना होती है।

१०. दवप्रदा :- वन में धास वगैरह के जलाने के लिये आग देना, दवप्रदा कहलाता है। वह दो प्रकार का है एक व्यसनज और दूसरा पुण्यबुद्धिज उनमें से बिना प्रयोजन के भीलों द्वारा वन में आग लगाना व्यसनज दवप्रदा कहलाता है और जब मैं मर जाऊँगा उस समय मेरे कल्याण के लिये इतने दीपों का उत्सव कराया जाय इस प्रकार की पुण्य की बुद्धि से जो दीपों में अग्नि प्रज्ज्वलित कराई जाती है उसको पुण्यबुद्धिज दवप्रद कहते हैं। तथा सूखे धास को जला देने से उस जगह अच्छी उपज होती है, गायों को अच्छा धास पैदा होता है इस बुद्धि में आग लगाना दवप्रद कहलाता है। इनमें भी करोड़ों जीवों का वध होता है।

११. विषवाणिज्य :- प्राणिधातक विष का व्यापार करना विषवाणिज्य कहलाता है।

१२. लाक्षावाणिज्य :- लाख के धन्धे को लाक्षावाणिज्य कहते हैं। लाख जिन पत्तों पर लगाई जाती है उनकी हिंसा हो जाती है। जब वृक्ष से लाख निकाली जाती है, तब जिन जीवों की शरीर की वह लाख बनती है। उनमें भी असंख्य अनेक त्रस रहते हैं उनका भी घात होता है। लाख के कीड़े जिन छोटे- २ पत्तों पर बैठते हैं तथा उनमें जो सूक्ष्म त्रस होते हैं उनके घात के बिना पैदा ही नहीं होती है। इसलिये यह व्यापार निषिद्ध है और यह भी खरकर्म है। इसी प्रकार टाकनखार, मनसिल आदि पदार्थों का व्यापार तथा गूगुल का व्यापार तथा धाय के फूल व छाल जिससे मद्य बनता है उसके

व्यापार का भी ग्रहण लाक्षावाणिज्य में गर्भित है।

**१३. दन्तवाणिज्य :-** जहाँ हाथी वौरह रहते हैं उस जगह पर व्यापार के लिए भीलादिकों को द्रव्य देकर दांत आदि खरीदना दन्त वाणिज्य है, यह भी खरकर्म है। क्योंकि वे भिल दन्त आदि लाने के लिए हाथी आदि का वध करेंगे। यहाँ इतना विशेष है कि जहाँ उत्पत्ति स्थान नहीं है और उनके निमित्त से जीवों के वध की संभावना नहीं है, वहाँ पर हाथी दंत आदि का व्यापार किया जा सकता है, उसमें दोष नहीं है।

**१४. केशवाणिज्य :-** दासी दास और पशुओं के व्यापार को केशव वाणिज्य कहते हैं। इस व्यापार में भी दासी दास आदि की परतन्त्रता क्षुधा, तृष्णा, वंध, वध आदि कृत पीड़ा होती है।

**१५. रसवाणिज्य :-** मक्खन के व्यापार को रस वाणिज्य कहते हैं मक्खन में सर्मूच्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। भूधु, चरबी आदि मद्य में भी जीवों का घात होता है। मद से मद्य पैदा होता है और बहुत जीवों का घात भी होता है इसलिए इन चीजों का व्यापार करना दुष्ट कर्म है।

श्वेताम्बर जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र ने भी योग शास्त्र में कहा है कि केवल भोजन के अतिचार त्याग करके शुद्ध भोजन करने से कोई भी सच्चा धार्मिक नहीं बन सकता है जब तक वह पापात्मक कार्य को त्याग नहीं करता है। यथा

अमी भोजनतस्त्याज्याः, कर्मतः खरकर्म तु ।  
तस्मिन् पंचदशमलान् कर्मादानानि संत्यजेत् ॥ (१८)  
(योगशास्त्रः तृ.प्र.पृ. ३७४)

उपर्युक्त पांच अतिचार भोजन की अपेक्षा से त्याज्य हैं। किन्तु कर्म की अपेक्षा से प्राणिधातक कठोरकर्म में परिगणित (परिसीमित) १५ कर्मादान हैं, जो व्रत में मलिनता पैदा करने वाले हैं, अतः उनका भलीभांति त्याग करना चाहिए।

उनके नामोल्लेख

अंगार - वन - शकट - भाटक - स्फोटजीविका ।  
दन्त - लाक्षा - रस - केश - विषवाणिज्यकानि च ॥ (१९) ॥

यंत्रपीडा - निर्लाभनमसतीपोषणं तथा ।

दवदानं सरःशोष इति पञ्चदश त्यजेत् ॥ (१००) ॥

(१) अंगारजीविका, (२) वनजीविका, (३) शकटजीविका, (४) भाटक-जीविका, (५) स्फोटजीविका, (श्लोक के पूर्वार्थ में उक्त 'जीविका' शब्द है; इसी तरह उत्तरार्द्ध में 'वाणिज्यक' शब्द है, जिसे प्रत्येक के साथ जोड़ा चाहिए) (६) दन्त-वाणिज्य, (७) लाक्षावाणिज्य, (८) रसवाणिज्य, (९) केशवाणिज्य, (१०) विषवाणिज्य, (११) यंत्रपीडाकर्म, (१२) निर्लाभन-कर्म, (१३) असतीपोषण, (१४) दवदान (दावाग्नि लगाने का कर्म) (१५) सरःशोष - (तालाब आदि का सुखाना)। श्रावक को इन १५ कर्मादानरूप अतिचारों का त्याग करना चाहिये।

अंगारजीविका, वनजीविका और शकटजीविका का स्वरूप  
अंगार - भ्राष्ट्रकरणं कुम्भायः स्वर्णकारिता ।

ठठार - त्वेष्टकापाकारविति द्विंगारजीविका । (१०१)

लकड़ी को जला कर कोयले बनाना और उसका व्यापार करना, भड़-भूंजे, कुम्भकार, लुहार, सुनार, ठठेरे और ईट पकाने वाले, इत्यादि के कर्म अंगार जीविका कहलाती हैं।

### वनजीविका

छिन्नाछिन्नवन - पत्र - प्रसून - फलविक्रयः ।

कणानां दलनात् पेषाद वृत्तिश्च वनजीविका । (१०२)

जंगल से कटे हुए या नहीं कटे हुए वृक्ष के पत्ते, फूल, फल, आदि को बेचना, चक्की में अनाज दल कर या पीस कर अजीविका चलाना इत्यादि जीविका वनजीविका है। वनजीविका में मुख्यतः वनस्पतिकाय का विघात होने की संभावना है।

### शकटजीविका

शकटानां तदंगानां घटनं खेटनं तथा ।

विक्रयश्चेति शकटजीविका परिकीर्तिता । (१०३)

शकट यानि गाढ़ी और उसके विविध अंग - पहिये, आरे आदि स्वयं

बनाना, दूसरों से बनवाना, अथवा बेचना या बिकवाना इत्यादि व्यवसाय को शक्तजीविका कहा है।

### भाटकजीविका

शक्तोक्षलुलायोष्ट्रखराश्वतरवाजिनाम् ।

भारस्य वहुनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटकजीविका ।(१०४)

गाड़ी, बैल, ऊँट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि पर भार लाद कर किराया लेना अथवा इन्हें किराये पर दे कर आजीविका लाना (भाड़ा) जीविका कहलाता है।

### स्फोटजीविका

सर : कूपादिखनन - शिलाकुटृनकर्मभिः ।

पृथिव्याएम्भसम्भूतैर्जीवनं स्फोटजीविका ।(१०५)

तालाब, कुँए आदि खोदने, पत्थर फोड़ने इत्यादि पृथ्वीकाय के घातक कर्मों से जीविका चलाना, स्फोटजीविका है।

### दन्तवाणिज्य

दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे ।

त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते ।।(१०६)

दांत, केश, नख, हड्डी, चमड़ा, रोम इत्यादि जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति - स्थानों पर जाकर व्यवसाय के लिए ग्रहण करना और बेचना दंत - वाणिज्य कहलाता है।

### लाक्षावाणिज्य

लाक्षा - मन : शिला - नीलो - धातकी - टड़णादिन : ।

विक्रय : पापसदनं लाक्षावाणिज्यमुच्यते ।।(१०७)

लाख, मनसिल, नील, धातकीवृक्ष, टंकणखार आदि पापकारी वस्तुओं का व्यापार करना, लाक्षावाणिज्य कहलाता है।

### रसवाणिज्य और केशवाणिज्य

नवनीत - वसा - क्षौद्र - मद्यप्रभृतिवक्रय : ।

द्विपाच्चतुष्पादिक्यो वाणिज्यं रसकेशयो : ।।(१०८) ।।

मक्खन, चर्बी, शहद, मदिरा आदि का व्यापार रसवाणिज्य और दो पैर वाले और चार पैर वाले जीवों का व्यापार केश वाणिज्य कहलाता है।

### विषवाणिज्य

विषास्त्रहुलयन्त्रायोहुरितालादिवस्तुन : ।

विक्रयो जीवितघनस्य विषवाणिज्यमुच्यते ।।(१०९) ।।

श्रृंगिक, सोमल आदि, विष तलवार आदि शस्त्र, हल, रेहट अंकुश - कुलहाड़ी आदि तथा हरताल आदि वस्तुओं के विक्रय से जीवों का घात होता है। इसे विष वाणिज्य कहते हैं।

### यन्त्रपीड़न कर्म

तिलेक्षु - सर्षपैरण्डजलयन्त्रादिपीड़नम् ।

दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीडा प्रकीर्तिता ।।(११०)

घाणी में पेलकर तेल निकालना, कोल्हू में पील कर इक्षु रस निकालना, सरसों, अरंड आदि का तेल यन्त्र से निकालना, जलयन्त्र - रेहट चलाना, तिलों को दलकर तेल निकालना और बेचना ये सब यन्त्र पीड़न कर्म हैं। इन यन्त्रों द्वारा पीलने में तिल आदि में रहे हुए अनेक त्रस जीवों का वध होता है। इसलिए इस यन्त्रपीड़न कर्म का श्रावक को त्याग करना चाहिए। लौकिक शास्त्रों में भी कहा है कि चक्रयन्त्र चलाने से दंस कसाई घरों के जितना पाप लगता है।

### निलाँच्छन कर्म

नासावेधोऽङ्गनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनम् ।

कर्ण - कम्बल विच्छेदो निलाँच्छनमुदीरितम् ।।(१११)

जीवों के अंगों या अवयवों का छेदन करने का धंधा करना, उस कर्म से अपनी आजीविका चलाना, निलाँच्छन कर्म कहलाता है। उसके भेद बताते हैं-

- बैल - भैंसे का नाक बींधना, गाय घोड़े के निशान लगाना, उसके अण्ड-कोष काटना, ऊंट की पीठ गालना, गाय आदि के कान, गलकम्बल आदि काट डालना, इसके ऐसा करने से प्रकट रूप में जीवों को पीड़ा होती है, अतः विवेकी जन इसका त्याग करे

### असतीपोषण

सारिकाशुकमार्जारेश्व - कुरुकृट कलापिनाम् ।  
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमस्तीपोषणं विदुः ॥ (१९२)

असती अर्थात् दुष्टाचार वाले, तोता, मैना, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, मोर आदि तिर्यच पशु - पक्षियों का पोषण (पालन) करना, तथा धन प्राप्ति के लिए व्यभिचार के द्वारा दास दासी से आजीविका चलाना असतीपोषण है। यह पाप का हेतु है। अतः इसका त्याग करना चाहिए।

### दवदान और सरःशोषरूप कर्मादान

व्यसनात् पुण्यबुद्ध या वा दवदानं भवेद द्विधा ।  
सरःशोष सरःस्तिन्धु - हृदादेशम्बुसंप्लव : ॥ (१९३)

दवदान दो प्रकार से होता है - आदत (अज्ञानता) से अथवा पुण्यबुद्धि से। यथा सरोवर, नदी हृदय समुद्र आदि में से पानी निकाल कर सुखाना सरः शोष है।

केवल हिंसात्मक निषिद्ध व्यापार (खरःकर्म) से ही पाप बन्ध नहीं होता है परन्तु अनिषिद्ध व्यापार यथा - वस्त्र, रत्न आदि के व्यापार से भी यदि अधिक शोषण करते हैं, मिलावट करते हैं तो ऐसे व्यापार भी हिंसात्मक है, पापबन्ध कारक है। न्यायोचित लाभ से अधिक लाभ लेना, अधिक कमाना, गेहूँ, चावल में कंकड मिलाना, धी में डालडा मिलाना, डालडा में चर्बी मिलाना, काली मिर्च में पपीता का बीज मिलाना, पीसे हुए गरम मसाले में लकड़ी का पाउडर मिलाना आदि ये सब निषिद्ध व्यापार हैं। अधिक लाभ के लिये उपभोक्ताओं की आवश्यकता रहते हुए भी चावल, गेहूँ व शक्कर आदि को संग्रहित करना व अधिक मूल्य बढ़ाने पर उनका विक्रय कर उपभोक्ताओं का शोषण करना यह भी निषिद्ध व्यापार है। इसी प्रकार शिक्षक विद्यालयों में बच्चों को समय पर ठीक से नहीं पठाते हैं। परन्तु बच्चों से

आर्थिक शोषण करते हैं यह भी निषिद्ध व्यापार है। इसी प्रकार नौकरशाही लोग भी ईमानदारी से अपना कर्तव्य नहीं करते हैं और उस कार्य को करने के लिये सुविधा शुल्क (धूस, रिशवत) लेते हैं यह भी निषिद्ध व्यापार है। इसी प्रकार न्यायाधीश, वकील आदि शोषण करने के लिये सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य करते हैं, यह भी न्याय के नाम पर महान् अन्याय है। इन असत्य, अनैतिक अवैधानिक उपायों से जो धन कमाते हैं उनका धन रक्त रंजित होने के कारण उनका बना हुआ शाकाहार भी मासांहार के समान है। जैनाचार्य उमास्वामी ने केवल चोरी करना ही अन्याय नहीं बताया है परन्तु चोरी के लिये प्रेरित करना तथा चोरी के माल का क्रय - विक्रय करना, न्याय से अधिक लाभ कमाना, मिलावट करना आदि भी पाप कारक बताया है। यथा -

स्तेनप्रयोगतदाहृतादान : विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-  
मानो - मानप्रातस्तुपकव्यवहारा : १ (२७)

(‘शज.’ पृ.सं. ४९९)

स्तेनप्रयोग, चोरी के धन का ग्रहण, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानो-मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच अचौर्याणुब्रत के अतिचार हैं। चोर को त्रिधा प्रयुक्त करना स्तेन प्रयोग है। अर्थात् - चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना वा दूसरे के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त प्रवृत्त कराना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेन प्रयोग हैं ; ऐसा जानना चाहिये। चोर के द्वारा लाये हुए द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है। अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाये हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है ; ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न - तदाहृतादान में क्या दोष है ?

उत्तर - चोरी का माल खरीदने (तदाहृतादान) से, पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिये। अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने से भी पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना

अतिक्रम है। उचित न्याय भाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। विरुद्धराज्य (राज्य के नियमों के विरुद्ध राज्य परिवर्तन के समय) अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना। अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महा कीमत में देने का प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। क्रय - विक्रय प्रयोग में कूटप्रस्थ तराजू आदि को हीनाधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है। प्रस्थादि मान कहलाते हैं और तराजू आदि उन्मान। दूसरे को देते समय कम वजन वाले बाँटों से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाँटों का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता है। कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना प्रतिरूपक व्यवहार है। कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वज्ञना - पूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं को असली वस्तु में मिलाकर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है। ये अदत्तादान विरति के पाँच अतिचार हैं। जो उपर्युक्त अन्यायपूर्ण उपायों से धन कमाकर दान करते हैं मन्दिर एवं मूर्ति बनाते हैं, धर्मशालाएँ, विद्यालय, औषधालय आदि खोलते हैं वह उचित नहीं हैं क्योंकि प्रसिद्ध उक्ति है -

‘चोरी का माल, मोरी में जाता है।’

चोरी का माल, अन्याय पूर्ण कमाया गया धन जिस क्षेत्र में भी प्रयोग किया जाता है, उस क्षेत्र का विकास नहीं होता बल्कि उसका विनाश ही होता है, क्योंकि साधन अपवित्र होने से साध्य भी अपवित्र हो जाता है। वर्तमान में पाया जाता है कि मन्दिरों में ज्यादा चोरी होती है, कभी मूर्तियों की चोरी, तो कभी सामग्रियों की चोरी। इसका यदि हम कर्म सिद्धान्त के अनुसार विश्लेषण करेंगे तो पायेंगे कि, “जैसी करनी वैसी भरनी।” इसीलिए अन्यायपूर्ण न धन कमाना, न अन्याय पूर्ण कमाये धन को धर्म में लगाना चाहिए।

साधारणतः देखने पर पाया जाता है कि कुछ लोग अपने गाँव के मन्दिर में भी दर्शन करने के लिए नहीं जायेंगे परन्तु तीर्थ यात्रा के लिये बाहर जायेंगे। गाँव के मन्दिर की मुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिये धन, समय एवं शक्ति का उपयोग नहीं करेंगे लेकिन अन्य गाँव में जाकर धन लगायेंगे। गाँव में साधु सन्त होने पर उनको आहार नहीं देंगे, उनकी सेवा नहीं करेंगे परन्तु बड़े - बड़े धार्मिक कार्यक्रमों में प्रतिष्ठा में, पंचकल्याण में जाकर लाखों रूपयों की

बोली लेंगे। यह सब असम्यक् विषमतापूर्ण, प्रसिद्धि पूर्ण कार्य है। जैसे कुछ व्यक्ति माता - पिता की सेवा उनके जीवित रहते नहीं करेंगे परन्तु उनकी मृत्यु के बाद मृत्यु भोज देंगे। एक कहावत भी है - ‘जिंदा बाप से लड्डमलड्डा मरे हुए को पहुंचाये गंगा।’ इसी प्रकार जीवंत तीर्थ, जीवंत धर्म स्वरूप साधु-सन्तों की सेवा नहीं करेंगे, आहार दान आदि नहीं देंगे परन्तु नाम के लिए बोली लेंगे। इस प्रकार नाम बढ़ाई के लिए जो कार्य करते हैं उसे यथार्थ पुण्य नहीं होता है। जैसा कि एक कवि ने कहा -

नाम बढ़ाई कारणे, जो धन खर्च मूढ़ ।

मरकर हाथी होएगा, आठो लटकाये सूँड ॥

कुंदकुंद देव ने रथणसार में भी कहा है -

खाई पूयालाहुं सक्काराइं किमिच्छ से जोई ।

इच्छस्मि जहु पर लोयं तेहिं किं तुज्जा पर लोयं (१२३)

(रथणसार) पृ. २०९

हे भव्य योगी ! ख्याति पूजा और इष्ट वस्तु के लाभ होने की, सत्कारादि की क्यों इच्छा करता है ? यदि परलोक की इच्छा करता है तो तेरे द्वारा क्या तेरा परलोक है। ख्याति आदि तेरा परलोक नहीं है, तेरा आत्मा ही तेरा परलोक है। अतः हे मुनिवर प्रवर ! यदि तू अपने परलोक को सुधारने की इच्छा करता है तो फिर अपनी प्रसिद्धि की इच्छा क्यों करता है ? अपना बड़प्पन प्रकट करने की इच्छा क्यों करता है ? किसी से लाभ की इच्छा क्यों करता है ? किसी से भी आदर सत्कार कराने की इच्छा क्यों करता है ? इन बातों से तेरा परलोक कभी नहीं सुधर सकता है।

## अध्याय - ३

### ये कैसे तप, ज्ञानादि ?

प्रत्येक धार्मिक गतिविधियों का परमलक्ष्य आत्मा की उपलब्धि, सत्य की प्रतीति, मोक्ष की प्राप्ति है। इन उद्देश्यों से रहित किसी भी तरह धार्मिक कार्य नहीं हो सकता है। जब तक आत्मा में निर्मलता नहीं आती या आत्मा के निर्मलता के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता है तब तक धार्मिक क्रियायें भी धर्म बाह्य क्रियायें हो जाती हैं। आत्मा की निर्मलता के लिए वैभाविक भाव यथा मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा, कठोरता, संकीर्णता का अभाव या कम होना चाहिये। उपर्युक्त वैभाविक भाव के अभाव से आध्यात्मिक गुण भी नहीं प्राप्त हो सकते हैं। “आत्मानुशासन” में गुणभद्र स्वामी ने कहा भी है।

हृयदसरस्मि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाद्ये  
वस्ति खलु कषायग्राहुचक्रं समन्तात् ।  
श्रयति ग्रुणग्रुणोऽयं तत्र तावद्विशङ्कुं  
सयमशामविशेषस्तान् विजेतुं यतस्व (२१३)

निर्मल और अथाह हृदयरूप सरोवर में जब तक कषायों रूप हिंस्र जल - जन्तुओं का समूह निवास करता है तब तक निश्चय से यह उत्तम क्षमादि गुणों का समुदाय निःशंक होकर उस हृदय रूप सरोवर का आश्रय नहीं लेता है। इसीलिये हे भव्य ! तू ब्रतों के साथ तीव्र - मध्यमादि उपशम - भेदों से उन कषायों को जीतने का प्रयत्न कर।

कुछ व्यक्ति उपवास, रस - त्याग आदि बहिरंग तप एवं स्वाध्याय आदि करते हुए भी भाव को निर्मल, परिमार्जन नहीं करते हैं परन्तु और अधिक दूषित कर देते हैं। जिस प्रकार विषधर सर्प अपनी कँचुली त्याग करने के बाद भी विष त्याग नहीं करता है। उसे शक्कर मिश्रित दूध पिलाने पर भी दूध नहीं बल्कि विष ही उगलता है, उसी प्रकार कुछ धर्म ध्वजी बाह्य ढोंगी धार्मिक व्यक्ति त्याग, तप, ज्ञान आदि से और भी अधिक हठग्राही, कुटिल व अंह-कारी बन जाते हैं।

नीतिकारों ने कहा भी है -

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिपरेषां परपीडनाय ।  
खलस्य साधोर्विपरीतमेतदज्ञानायदानाय च रक्षणाय ॥

दुर्जन व्यक्ति विद्या प्राप्त करके उस विद्या से वाद - विवाद करके वातावरण को दूषित बनाता है। धन प्राप्त करके अंहकारी बन जाता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, परन्तु सज्जन व्यक्ति विद्या प्राप्त करके स्व - पर को ज्ञानी बनाता है। धन को प्राप्त करके स्व - पर उपकार के लिये दान देता है एवं शक्ति प्राप्त करके दूसरों की सेवा करता है, दूसरों की रक्षा करता है तथा दूसरों को ऊपर उठाता है। आशर्चय की बात यह है कि ज्ञान प्राप्त करके कुछ व्यक्ति अज्ञान के समान व्यवहार करते हैं। “आत्मानुशासन” में गुण भद्र स्वामी ने कहा भी है -

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्

अहो मोहस्य माहृत्यमन्यदप्यत्र मृश्यते । (१७५)

ज्ञान स्वभाव का विचार करने पर प्राप्त होने वाला उसका फल भी वही ज्ञान है जो कि प्रशंसनीय एवं अविनश्वर है। परन्तु आशर्चय है कि अज्ञानी प्राणी उस ज्ञानभावना का फल ऋद्धि आदि की प्राप्ति भी खोजते हैं, यह उनके उस प्रबल मोह की महिमा है।

शास्त्राठनौ मणिकद्वयो विशुद्धो भाति निर्वृत : ।

अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् । (१७६)

शास्त्ररूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। किन्तु दुष्ट जीव (अभव्य) उस शास्त्र रूप अग्नि में प्रदीप्त होकर मलिन व भस्मस्वरूप हो जाता है।

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो

यदीच्छसि फलं तयोरिहु हि लाभपूजादिकम्

छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः

कथं समुपलप्यस्ये सुरसमस्य पक्षं फलम् । (१७८)

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तत्पश्चरण करके भी

यदि उन दोनों का फल तू यहां सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझाना चाहिये कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा? नहीं कर सकेगा।

आचार्यः कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है  
णहु दंडइ कोहुइ देहुं दंडइ कहुं खवहु कम्मं।  
सप्पो किं मुवहु तहु वर्मीए मारिए लोए॥ (७०)  
(श्यामसार, पृ० १४)

जो क्रोधादि कषायों का दमन नहीं करता, जो मात्र शरीर को उपवासादि तप करके दंड देता है, वह कैसे कर्मों का नाश कर सकता है? उसी प्रकार लोक में वामी को मात्र कूटने से क्या सर्प मरता है? नहीं मरता है।

उपस्म तव भाव जुदो वाणी सो भावसंजुदो होई।  
वाणी कषाय वसगो असंजदो होइ सो ताव॥ (७१)

जो उपशम तप भाव युक्त वह ज्ञानी भाव संयुक्त होता है। ज्ञानी कषायों से युक्त होता है तब तक वह असंयमी होता है।

णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेणेदि सुवोलए अणाणी।  
वेज्जोभेसज्जमहुं जाणे इदि णस्सदे वाही॥ (७२)

रत्नत्रय का धारक सम्यज्ञानी जीव ज्ञान के बल से कर्मों को नाश करता है ऐसा अज्ञानी बोलता है इस प्रकार क्या रोग नष्ट होगा? औषधि को मैं वैद्य जानता हूँ। इतना मात्र से क्या रोग दूर होता है? अर्थात् सम्यक् चरित्र बिना केवल ज्ञान से कर्मों का नाश नहीं होता है।

अणाणी विसयविरतदो होइ सयसहस्रगुणो।  
णाणी कसायविरदो विसयासन्तो जिणुदिं॥ (७३)

मोही बहिरात्मा अज्ञानी पंचेन्द्रिय सबंधी विषयों से विरक्त होता है। सम्यग्दृष्टि है वह कषाय भाव से विरक्त होकर पंचेन्द्रिय संबंधी विषयों का सेवन करता है इसलिये मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की अपेक्षा हजार गुण ज्ञानी श्रेष्ठ है।

पुव्वं सेवइमिच्छामल सोहुण हेतु सम्भेसज्जं।  
पच्छगसेवइ कम्मामयणासण चरियसम्भेसज्जं॥ (७४)



प्रथम में मिथ्यात्व मल के शोधन करने हेतु सम्यक्त्वरूपी औषधि का सेवन करना चाहिए, पीछे से कर्मरूपी मलों को नाश करने के लिए सम्यक्त्वारित्र रूपी औषधि का सेवन करना चाहिए।

विणओ भत्तिविहीणो महिलाण शेयणं विणाणेहं।  
चागो वैरथगविणा एदेदो वाशिया भणिया॥ (७५)

भक्ति रहित विनय, स्थियों का सिर कूट कर स्नेह बिना रोना, अंतरंग भावों में वैराग्य नहीं परन्तु ऊपर से त्याग किया गया, गाथा में कहे गये सब ही निरर्थक हैं कोई भी फलदायक नहीं हैं।

सुहङ्गो सूरत्तविणा महिला सौहुठगरहिय परिसोहा।  
वैरथगणाण संजमहीणा खवणाण किंवि लभते॥ (७६)

शूरत्व के बिना सुभट शोभा को प्राप्त नहीं होता, सौभाग्य के बिना महिला शोभा को नहीं प्राप्त होती है, वैराग्य, ज्ञान और संयम से रहित साधु कुछ भी नहीं प्राप्त करते हैं।

पुवं जो पंचिंदिय तणु मणु वचि हृत्थपाय मुण्डाओ।  
पच्छासिर मुण्डाओ सिव गङ्ग पहुणायगो होइ॥ (८०)

सो साधु प्रथम में स्पर्शन, रसना, ग्राण, चक्षु, कर्ण इन पंच इन्द्रियों का शरीर, मन, वचन, हाथ पैरो को मूढ़ता है उसके पीछे सिर के बालों का केंशलोंच करता है अथवा सिर का मुण्डन करता है वह मोक्षमार्ग का नायक होता है।

कायकिलेसुववासं दुद्धरतव यरण कारणं जाण।  
तं णिय सुद्धसस्कवं परिपुणं चेदि कम्मणिम्मूलं॥ (८६)

कायकलेश और अनशनादि कठोर तपश्चरण कर्मों के क्षय में कारण है, ऐसा जान और परिपूर्ण निज शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होने पर समूल कर्म का नाश हो जाता है, इस प्रकार जानना चाहिए।

मविख सिलिमिंपडिओ, मुवइ जहा तहा परिठगहे पडिउ।  
लोहीमूढोखवणो काय किलेसेसु अणणाणी॥ (१३)

कफ के ऊपर खाने की इच्छा से मक्खी बैठ जाती है और फँसकर मरण

को प्राप्त होती है। लोभी, अज्ञानी, श्रमण परिग्रह में (फँसकर) आसक्त होकर संकिलष्ट परिणामों को करके विनाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार अज्ञानी, मोही, जिन लिंग का धारक काय कलेश तप को कर संसार रूपी गर्त में डूब जाता है।

जिस प्रकार अशुद्ध सुवर्ण पाषाण को अग्नि से तपा कर शुद्ध किया जाता है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से तपा कर आत्मा को शुद्ध किया जाता है इच्छाओं का निरोध, कषायों का दमन तथा परिशोधन, साम्य भाव का परिवर्धन, आत्मा का परिशोधन करना ही तप का फल है। गुणभद्राचार्य ने “आत्मानुशासन” में कहा भी है-

इहैव सहजान् शिपून् विजयते प्रकोपादिकान्  
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाऽछति।  
पुरश्च पुरुषार्थं सिद्धिंदिविरात्स्वयं यायिनी।  
नरो न एमते कथं तपसि तापसंहारिण। (१४४)

जिस तप के प्रभाव से प्राणी इस लोक में क्रोधादि कषायों रूप स्वाभाविक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है तथा जिन गुणों को वह अपने प्राणों से भी अधिक चाहता है, वे गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त तप के प्रभाव से परलोक में उसे मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि स्वयं ही शीघ्रता से प्राप्त होती है। इस प्रकार से जो तप प्राणियों के संतोष को दूर करता है उसके विषय में मनुष्य कैसे नहीं रमता है? अर्थात् रमना ही चाहिये।

जिस प्रकार आत्मा का परिशोधन करने के लिये तपस्या की जाती है उसी प्रकार हित की प्राप्ति, अहित का परिहार तथा साम्यभाव की अभिवृद्धि के लिए सत् साहित्यों का अध्ययन किया जाता है न कि लोक प्रसिद्धि के लिये व न धन उपार्जन के लिये। “आत्मानुशासन” में कहा है-

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिहु लोकपंक्तिं विना  
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।  
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्  
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः ॥(११०)  
हे भव्यजीव ! तू लोकपंक्ति के बिना अर्थात् प्रतिष्ठा आदि की अपेक्षा न

करके निष्कपटरूप से यहां इस प्रकार से निरन्तर शास्त्र का अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायकलेशादि तपों के द्वारा शरीर को भी इस प्रकार से सुखा कि जिससे तू दुर्जन कषाय एवं विषयरूपी शत्रुओं को जीत सके। कारण कि मुनिजन राग-द्वेषादिकी शान्ति को ही तप और शास्त्राभ्यास का फल बतलाते हैं।

उपर्युक्त गुण की उपलब्धि केवल श्रवण मात्र से, अध्ययन मात्र से नहीं हो सकती है। जो अभव्य हो, दुरान्दूर भव्य हो अथवा जिसका संसार बहुत दीर्घ हो वो ऐसे महान गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता है। सदगुरु का भी उपदेश वही स्वीकार कर सकता है और उसका अनुसरण कर सकता है जो निकट भव्य (निकट में भगवान बनने वाला हो)। कहा भी है-

सतगुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमे ।  
तब कछु बने उपाय, कर्म चोर आवत रुके ॥

निकट भव्य की अन्तरंग एवं बहिरंग की क्रियायें इस प्रकार होती हैं। इसका वर्णन “आत्मानुशासन” में इस प्रकार किया गया है।

विषयविश्वातः संगत्यागः कषायविनिग्रहः  
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।  
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिजिनषु दयालुता  
भवति कृतिनः संसाराद्येस्तटे निकटे सति ॥(२२४)

इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शान्ति, यम-नियम, इन्द्रियदमन, सात तत्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण, जिन भगवान् में भक्ति और प्राणियों पर दयाभाव; ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके कि संसाररूप समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है।

यमनियमनितान्तः शान्तवाहान्तरात्मा  
परिणमितसमाधिः सर्वसत्वानुकम्पी।  
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं  
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥(२२५)

जो यम-यावज्जीवन किये गये व्रत, तथा नियम में-परिमित काल के लिये धारण किये गये व्रत में-उद्यत है, जिसकी अन्तरात्मा (अन्तःकरण) बाह्य

इन्द्रियविषयों से निवृत हो चुकी है जो ध्यान में निश्चल रहता है सब प्राणियों के विषय में दयालु है, आगमोक्त विधि से हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजन को ग्रहण करने वाला है; ऐसा जीव समस्त क्लेशों के समूह को जड़-मूल से नष्ट कर देता है।

सम्भिगतस्मस्ताः सर्वसावद्यदूराः  
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्व प्रचाराः ।  
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः  
कथर्मिहु न विभुक्तेभर्जनं ते विमुक्ताः ॥ (२२६)

जो समस्त हेय-उपादेय तत्व के जानकार हैं, सब प्रकार की पाप क्रियाओं से रहित हैं, आत्महित में मनको लगाकर समस्त इन्द्रियव्यापार को शान्त करने वाले हैं, स्व और पर के लिये हितकर वचन का व्यवहार करते हैं, तथा सब संकल्प-विकल्पों से रहित हो चुके हैं; ऐसे वे मुनि यहाँ कैसे मुक्ति के पात्र न होंगे? अवश्य होंगे।

तपश्चरण से भले शरीर का शोषण होता है तथापि शरीर का शोषण करना तप का मुख्य उद्देश्य नहीं है, परन्तु कषायों को कृश करना तप का मुख्य उद्देश्य है। शरीर की शक्ति के अनुसार बाह्य तप यथा योग्य करते हुए कषायों को क्षीण करने रूप अन्तरंग तप अधिक करना चाहिए परन्तु जो कषायों को नहीं करता है परन्तु केवल शरीर को क्षीण करने रूप तप करता है उसका आत्म-कल्याण नहीं हो सकता है। कहा भी है-

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशास्थो भवान्  
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदशता ॥ (२१२)

यदि तू कष्ट को न सहने के कारण घोर तप का आचरण नहीं कर सकता है तो न कर। परन्तु जो कषायादिक मन से सिद्ध करने योग्य हैं- जीतने योग्य हैं- उन्हें भी नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है।

अन्तरंग कषायों को मन्द/क्षीण करके परिणामों को शुद्ध/विशुद्ध करने पर ही पुण्य का बन्ध होता है, कर्म की निर्जरा होती है और मोक्ष की उपलब्धि होती है इसलिए हर समय परिणाम को प्रधानता देनी चाहिये कहा भी है-

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।  
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ (२३)

विद्वान् मनुष्य निश्चय से आत्मपरिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण बतलाते हैं। इसलिये अपने निर्मल परिणाम के द्वारा पूर्व संचित पाप की निर्जरा, नवीन पाप का निरोध और पुण्य का उपार्जन करना चाहिये।

दयादमत्यागस्माधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।  
नयत्यवश्यं वचसामशोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥ (१०७)

पृ. (१०२)

हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रियदमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है, जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात्  
लोकदयहितमर्जय धर्मार्थयशः सुख्यार्थम् ॥ (३०)

पृ. ३०

हे भव्य जीव! तू पर निन्दा, दीनता, छल-कपट, चोरी और असत्य भाषण आदि पापों को छोड़कर उनके प्रतिपक्षभूत सत्यसंभाषण एवं अचौर्य ब्रतों को- जो दोनों ही लोक में हितकारक है- धारण कर। कारण कि ये सबके लिये धर्म, धन, कीर्ति और सुख के कारणभूत हैं।

बाह्य तप, त्याग आदि तब स्व- पर उपकारक, इहलोक, परलोक उपकारक होते हैं, जब भाव में निर्मलता हो, उद्देश्य की महानता हो। अन्यथा तपादि स्व- पर धात के लिए कारण बन जाते हैं, जिस प्रकार द्वीपायन मुनि ने बारह वर्ष तक तपस्या की परन्तु एक बार क्रोधित होकर स्व के साथ-साथ लाखों-करोड़ों जीव को जला डाला। इसी प्रकार अभी भी द्वीपायन के समान अनेक व्यक्ति हैं, जो बाह्य तप तो करते हैं, परन्तु कषायों की वृद्धि भी करते हैं। कई दिनों का उपवास करें, रसत्याग भी करें परन्तु भोजन के समय थोड़ी देरी होने पर या किसी भी चीज या रस की कमी होने पर अपनी भड़कती अग्नि को शान्त नहीं कर पाते हैं। परन्तु अधिक प्रज्ज्वलित ही करते हैं। एक

रस त्याग करेंगे तो दूसरे रस के प्रति अधिक आसक्त हो जायेंगे, मौन धारण करेंगे तो अधिक जोर से हँ, हाँ करेंगे या मौन समाप्त होनेके बाद अनर्गल बोलेंगे, दूसरों को गाली देंगे, दूसरों की निन्दा करेंगे तथा अभद्र व भ्रष्ट शब्द व्यवहार करेंगे। कुछ व्यक्ति उपवास करेंगे व उपवास के दिन दूसरों की निन्दा करेंगे कपड़े धोयेंगे, घर में झाड़ लगायेंगे, अश्लील व्यवहार करेंगे, सिनेमा देखेंगे नहीं तो सो जायेंगे। यह उपवास के नाम पर कलंक या लंघन है। कुछ व्यक्ति उपवास के दिन, पूजा आदि के लिए मुँह में पानी डालकर मुँह की शुद्धि तो नहीं करेंगे, परन्तु उपर्युक्त काम करते रहेंगे। ऐसे व्यक्ति यथार्थसे तप, त्याग, ज्ञान का महत्व एवं उद्देश्य नहीं जानते हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए मेरी पुस्तक 'धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन' का अध्ययन करें।

## अध्याय ४

### ये कैसे शुद्ध शाकाहारी ?

'विश्व साहित्य' के अध्ययन से एवं अनुभव से ज्ञात होता है कि कभी-कभी सात्त्विक आहार करने वाले कुछ व्यक्ति भी वैचारिक दृष्टि से पतित पाये जाते हैं, जैन धर्मानुसार रावण, कंस, दुर्योधन आदि सात्त्विक आहारी होते हुए भी पापाचारी, दुराचारी, भ्रष्टाचारी थे। स्वयंभूरमण समुद्र में निवास करने वाला महामत्स्य के कान का मैल खाकर उसके कान में निवास करने वाला तन्दुल मत्स्य भी दूषित विचारके कारण सप्तम नरक में गया। उस तन्दुलमत्स्य ने अपने जीवन में न दूसरों को मारा, न मांसाहार किया तथापि सप्तम नरक में जाने का कारण उसके दूषित विचार थे। इसलिये केवल शाकाहार या सात्त्विक आहार करके स्वयं को सात्त्विक व्यक्ति, साधु सन्त या अहिंसक नहीं मान लेना चाहिये। सात्त्विक आहार करना धर्म साधन के लिये बाह्य निमित्त है, इस निमित्त को ही सब कुछ मानकर नहीं बैठ जाना चाहिये। कबूतर, बकरा आदि शाकाहारी होते हुये भी बहुत काम सेवन करते हैं। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि केवल आहार के ऊपर ध्यान देकर, विचार,

आहार के ऊपर ध्यान नहीं देना बहुत ही बड़ी गलती हैं इसलिये जितना ध्यान आहार के ऊपर देना चाहिये उससे भी अधिक ध्यान विचार एवं आचार के ऊपर देना चाहिये। क्योंकि यदि हमारा आचार एवं विचार शुद्ध एवं सात्त्विक होगा तब हमारा आहार भी शुद्ध व सात्त्विक होगा। जो असात्त्विक भोजन करते हुए कहेगा कि मेरा आचार एवं विचार शुद्ध है, मुझे सात्त्विक आहार की क्या आवश्यकता है? तो जानना चाहिये कि वह व्यक्ति ढोंगी है, पाखंडी है, मायाचारी है व झूठ बोलने वाला है।

वर्तमान युग वैज्ञानिक, तार्किक युग होते हुए भी कुछ व्यक्ति साक्षर होते हुए भी राक्षस बनकर मांस सेवन करते हैं, मद्यपान करते हैं, धूम्रपान करते हैं व तम्बाकू खाते हैं। परन्तु कुछ व्यक्ति केवल भोजन में शाकाहार का प्रयोग करके स्वयं को अहिंसक एवं धार्मिक मानते हैं, ऐसे व्यक्ति भी कम मूर्ख नहीं हैं, क्योंकि कुछ शाकाहारी व्यक्ति हिंसात्मक प्रसाधन सामग्री जैसे नेल पॉलिश, लिपिस्टिक, चर्म निर्मित जूते, बेल्ट, रेशमी वस्त्र आदि का प्रयोग निःसंकोच करते हैं। केवल वे हिंसात्मक सामग्रियों का निःसंकोच प्रयोग नहीं करते हैं, बल्कि वे उसका उत्पादन भी करते हैं एवं क्रय-विक्रय भी करते हैं। ऐसे व्यक्ति भी हिंसक हैं, मांसाहारी के समान हैं, पाखण्डी हैं और मूढ़ भी हैं। वे 'गोमुख व्याघ्र' के समान दिखने में तो बगुलों के जैसे धार्मिक हैं, परन्तु वस्तुतः धर्म द्रोही हैं। कुछ व्यक्ति उपर्युक्त हिंसात्मक सामग्री प्रयोग नहीं करते हैं, परन्तु व्यापार में दूसरों का शोषण करते हैं और उससे उपार्जित धन से शाकाहार करते हैं वह शाकाहारी भी मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक दृष्टि से मांसाहारी के समान है। इसके लिए मैं निम्न उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ-

प्राचीनकाल में एक दिगम्बर जैन मुनि आहार करने के लिए एक व्यक्ति के यहाँ आये। वे आहार करते-करते रखा हुआ बहुमूल्य हार को लेने का विचार करते हैं। आहार के बाद जाते समय उस हार को उठाकर कमण्डल में रखकर ले जाते हैं। साधु के जाने के बाद श्रावक हार को ढूँढते हैं, परन्तु हार नहीं मिलता है। इसीलिए वे सोचते हैं कि साधु औंहार करने के लिये आये थे शायद वे ले गये होंगे। इसीलिए वह श्रावक साधु को पूछने के लिए साधु के पास जाने लगा। उधर साधु सामयिक में बैठकर आत्म विश्लेषण करते हैं और विचार करते हैं कि मैं समस्त वैभव को त्यागकर साधु बना फिर इस हार की

चोरी मैंने क्यों की? इस हार को वापिस करने के लिये श्रावक के घर की ओर जाने लगे। रास्ते में दोनों की भेंट हो गई। भेंट होते ही वे साधु उस व्यक्ति को पूछते हैं कि तुम कौनसा व्यापार करते हो वह व्यक्ति सकुचाते हुए बोला कि मेरी दुकान रात में बारह बजे खुलती है एवं चार बजे बंद होती है। साधु पूछता है कि इसका मतलब क्या है? व्यक्ति बोलता है कि जो चोर, डाकू लोग चोरी करके, डाका डाल के धन सम्पत्ति लाते हैं, उन्हीं का मैं क्रय-विक्रय करता हूँ, इसीलिए मेरी दुकान रात को ही खुलती है एवं रात को बंद होती है। तब साधु उस हार को उस व्यक्ति को देते हुए बोलते हैं कि तुम्हारे द्वारा चोरी का भोजन मैंने एक दिन खाया इसलिये मेरी चोरी करने की भावना हुई। तुम तो रोज चोरी का माल खाते हो तो तुम्हारी क्या गति होती?

दूसरा एक प्रसिद्ध उदाहरण गुरु नानक का है। एक बार गुरु नानक को एक जमींदार ने भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। और एक सामान्य किसान ने भी निमन्त्रण दिया। परन्तु गुरु नानक किसान के यहाँ जाकर भोजन करते हैं इससे जमींदार स्वयं का अपमान मानकर क्रोधित एवं ईर्ष्यालु होकर गुरु नानक को बुलवाकर इसका कारण पूछता है। गुरु नानक बोलते हैं कि आप अपना भोजन ले आओ और किसान को भी बोलते हैं कि आप भी अपना भोजन ले आओ। जमींदार हलुआ, खीर, रसगुल्ला, गुलाब जामुन, कचौरी लाकर के गुरु नानक के सामने रखता है और किसान अपनी सूखी रोटी लाकर देता है गुरु नानक दोनों प्रकार के भोजन को हाथ में लेकर निचोड़ते हैं। जिस हाथ में जमींदार का भोजन था उससे खून टपकता है और किसान के भोजन से दूध टपकता है। उनके प्रायोगिक उत्तर से सब कोई स्तब्ध रह जाते हैं और गुरु नानक ने क्यों जमींदार का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया और किसान के यहाँ भोजन क्यों किया इसे भी जान लेते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण जैन धर्म में, हिन्दू धर्म में, बौद्ध धर्म में पाये जाते हैं। एक हिन्दू धर्म का उदाहरण मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ।

महाभारत युद्ध के समय भीष्म पितामह जब शरशय्या पर शयन करके मृत्यु के अन्तिम क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे तो पाण्डव उपदेश सुनने के लिये पास जाते हैं और उपदेश के लिए प्रार्थना करते हैं। इस अवसर पर द्रौपदी हँसने लगती है तब पाण्डव बोलते हैं कि हे द्रौपदी! इस अवसर पर इस प्रकार

चर्म निर्मित वस्तुएँ व हिसांत्मक प्रसाधन  
सामग्रीयों की दुकान

शराब, पान, बीड़ी, सिगरेट, नशीली  
व मांस की वस्तुओं की दुकान



हड्डी, मांस, रक्त, चर्बी, अखाद्य, अभक्ष्य  
वस्तुओं की मिलावट की दुकान

उपर्युक्त दुकान मालिक शाकाहार कर रहा है।

हँसना मर्यादा का उल्लंघन करना है। तब भीष्म पितामह बोलते हैं कि, हे पाण्डवों ! द्रौपदी जो हँस रहीं है वह ठीक हँस रही है। उसका कारण भी है। पाण्डव पूछते हैं कि है पितामह! इसका क्या कारण है? तो पितामह बोलते हैं कि हे पाण्डवों! जब आप लोगों ने धर्म उपदेश के लिये मुझसे प्रार्थना की तब द्रौपदी विचार करती है ऐसे अन्यायी पितामह क्या उपदेश दे सकते हैं। क्यों कि पाण्डवों! मुझे मालूम था कि आधे राज्य के उत्तराधिकारी आप ही हो, परन्तु कौरवों ने आप लोगों को सुई की नोंक के बराबर राज्य नहीं दिया तो भी मैंने आप लोगों को राज्य नहीं दिलाया। भरी राजसभा में कुलवधु द्रौपदी का चीर-हरण हुआ तथापि मैंने उसका विरोध नहीं किया, इतना ही नहीं कौरव और पाण्डव में युद्ध हुआ तब मैंने जानते हुए भी अन्यायी कौरवों का ही पक्ष लिया। केवल पक्ष ही नहीं लिया, परन्तु उनका प्रधान सेनापति बनकर आप लोगों के विरुद्ध में युद्ध किया। मेरा अन्यायी बनने का कारण अन्यायी कौरवोंका पक्ष लेना एवं भोजन करना है अर्थात् उनका अन्यायमय भोजन करके मेरी बुद्धि भी अन्यायपूर्ण हो गई थी। परन्तु हे द्रौपदी! अब मैं उपदेश देने के योग्य हूँ, क्योंकि अर्जुन के बाण के कारण मेरा दूषित रक्त निकल गया है। उपर्युक्त उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि अन्यायपूर्ण भोजन करने वाले भी अन्यायी होते हैं, हिंसात्मक उपाय से धन अर्जन करने वाले भी हिंसक ही हैं द्रव्यरूप से भोजन शुद्ध होते हुए भी दूषित भाव से भावित होने पर शुद्ध भोजन भी अशुद्ध हो जाता है। मैंने ऊपर कुछ वर्णन किया, यह कपोल-कल्पित, अतिरंजित या अनुमानित नहीं है बल्कि प्राचीन मनीषियों, लेखकों ने, आचार्यों ने भी उपर्युक्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। कुछ प्राचीन ग्रंथोंके उद्धरण उद्धृत करके मैं मेरे सिद्धान्त की पुष्टि कर रहा हूँ। यथा-

द्रव्यतः शुद्धमप्यनन्भांवाशुद्धया प्रदुष्यते ।  
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥ (६७)  
(धर्ममृत, पृ. ४९२)

द्रव्य से शुद्ध भोजन भी भाव के अशुद्ध होने से अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि अशुद्ध भाव बंध के लिए और शुद्ध भाव मोक्ष के लिए होते हैं, यह निश्चित है। केवल वनस्पति से प्राप्त भोजन ही शुद्ध शाकाहार नहीं है, यदि यह भोजन न्याय मार्ग से उपार्जित नहीं किया गया है जो मनुष्य मद्य व्यापार,

चर्म व्यापार, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, आदि नशीली वस्तुओं का व्यापार करके धनोपार्जन करता और उससे प्राप्त धन से शाकाहार भोजन क्रय करके खाता है तथापि वह भोजन शुद्ध शाकाहार की श्रेणी में नहीं आता है। इतना ही नहीं, जो पाप करने वाला व्यक्ति है उसके द्वारा बनाया गया, स्पर्श किया गया, उसके द्वारा दिया गया शाकाहार भी शुद्ध शाकाहार नहीं है। क्योंकि इससे पाप एवं पापी की अनुमोदना होती है एवं प्रोत्साहन मिलता है। इतना ही नहीं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर पापी व्यक्ति से निःसृत पापात्मक दूषित भावनात्मक तरंग भी उस भोजन में पड़ती है, जिससे भोजन में दूषित रासायनिक प्रक्रिया होती है, जिससे भोजन दूषित हो जाता है, इसलिए जैन धर्म में पापी व्यक्ति एवं उससे स्पर्श किया गया भोजन भी अग्रह्य बताया है। इसका विशेष वर्णन मैंने मेरी पुस्तक 'व्यसन का धार्मिक विश्लेषण' और 'आदर्श विचार-विहार-आहार' में किया है। विशेष जिजासु उससे अध्ययन करें। निम्न में मनुस्मृति के कुछ श्लोक उद्धृत कर रहा हूँ-

स्तेनगायन योश्चान्नं तक्षणो वार्धुषिकस्य च।  
दीक्षितस्य कर्दर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च।(२९०)

(मनुस्मृति) पृष्ठ- १६०

चोर, गवैये, बढ़ई और सूद खाने वालों का अन्न न खाय। यज्ञ की दीक्षा लिये हुए यजमान का दिया हवन के पूर्व का अन्न, कृपण का अन्न और कैदी का अन्न न खाय।

अभिशास्तस्य षण्ठस्य पुंश्चल्या दाम्मिकस्य च।  
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्पोच्छिष्टमेव च।(२९१)

जनपवाद से दूषित, नपुंसक, व्यभिचारिणी और कपट धर्मचारी (अर्थात् बैडालवृत्तिक आदि) का अन्न न खाय। सिरका, बासी अन्न और शूद्र का उच्छिष्ट अन्न भी न खाय।

चिकित्सकस्य मृगयोः कूरयोऽिष्ठभोजिनः।  
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्।(२९२)

वैद्य का, व्याध का, क्रूर का, जूठन खाने वाले का, भयंकर कर्म करने वाले का तथा सूतिका के लिए तैयार किया गया अन्न न खाय। एक पंक्ति में

बैठकर खाने वालों किसी ने यदि आचमन कर लिया हो तो शेष और आशौचान्न न खाये।

अनर्चितं वृथामांसवीरायाश्च योषितः।  
दिष्पदन्तं नगर्यन्तं पतितान्नमवक्षुतम्।(२९३)

सम्मानपूर्वक जो अन्न न दिया गया हो, वृथा मांस (जो देवता पितरों को अर्पित न किया गया हो), पुत्रहीन स्त्री का अन्न, शत्रु का अन्न, नगर में मिलने वाला अन्न, पतित का अन्न तथा जिस अन्न पर किसी ने छींक दिया हो वह अन्न न खाय।

पिशुनानुतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रिणस्तथा।  
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघनस्यान्नमेव च।(२९४)

चुगुली खाने वाले, झूठ बोलने वाले, यज्ञ विक्रयी अर्थात् यज्ञ का फल आपको हो यह कहकर धन जमा करने वाले, नट, दर्जी और कृतघ्न इनका अन्न नहीं खाना चाहिए।

कीर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च।

सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रमिणस्तथा ॥ (२९५)

लोहार, केवट, रंगोपजीवी, सुनार, बाँसवाले और हथियार बेचने वाले का अन्न न खायें।

श्ववतां शौणिडकानां च चैलनिर्णेजकस्ये च।

रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहेण। (२९६)

कुत्ता पोसने वाले, मद्य बेचने वाले, धोबी, रंगरेज, निर्दय और जिसके घर में उपपति (अर्थात् परस्तीगामी पुरुष) हो, इन सबका अन्न न खाय।

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीं जितानां च सर्वशः।

अनिदशां च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च (२९७)

घर में पली के उपपति को जानकर भी जो सहन करते हैं, जो स्त्री के वशीभूत हैं उनका और मृताशौच का अन्न तथा जो तृप्तिकारक न हो उस अन्न को न खाय।

राजान्नं तेज आदते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्द्दसम्।

आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्वर्मावकर्तिनः (२९८)

पात्र में भोजन बनाते हैं उस पात्र को भी स्वच्छता से नहीं धोते हैं। मात्र परोसने वाले पात्र ऊपर से ही चमकीले रहते हैं। जिस पात्र में सब लोग खाते हैं उस पात्र को एक बाल्टी के पानी में डुबा देते हैं। वही गन्दी बाल्टी के पानी में ही अन्य रोगी- कुष्ठी, भिखारी, व्यक्तियों के पात्र को भी डुबाकर उस पात्र में पुनः परोसते हैं। विचार करिये कि वह भोजन पात्र किस प्रकार शुद्ध है? इस प्रकार धृणित, गन्दी, सब की झूठन से मिला हुआ, मद्य, मांस, कन्द-मूल बासी, आहार से युक्त भोजन खाने से आरोग्य के पतन के साथ-साथ नैतिक एवं धार्मिक पतन हो जाता है। केवल जिह्वा इन्द्रिय को लगाम में रखने से उक्त अनर्थ नहीं हो सकते हैं।

कुछ व्यक्ति स्वयं को शुद्ध शाकाहारी मानते हुए भी पंक्ति भोज में, प्रीति भोज में, मृत्यु भोजन में (मौसर) जाकर अशुद्ध, अमर्यादित भोजन करते हैं। अभी तो जैन समाज में भी पंक्ति भोजन रात को होता है उसमें अभक्ष्य, जमीकन्द के साथ-साथ शराब का भी प्रयोग करते हैं। भोज के लिये अधिक भोजन बनता है, इसलिये उसमें कभी-कभी अनछना पानी का भी प्रयोग हो जाता है। कभी एक बार येन-केन-प्रकारेण पानी छान लिया गया तो उसको दिन-रात पीते रहते हैं, या भोजन में प्रयोग करते रहते हैं। अनेक स्थान में जमीकन्द (आलू, प्याज, लहसुन, अदरक आदि) का तो प्रयोग निःसंकोच करने लगे हैं। अभी तो कुछ व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करते हुए स्वयं का up to date (आधुनिक फैशन) बताने के लिये बफैलो सिस्टम (भैंसा सिस्टम, बफर सिस्टम) में एक ही बर्तन में पशुओं के समान एक-दूसरों की झूठन खाते हैं। इतना ही नहीं अभी अण्डा, शराब को भी फैशन का एक अंग मान लिया गया है। जो उपर्युक्त प्रकार से अन्धानुकरण नहीं करते हैं, ऐसे शिक्षित, सभ्य, ज्ञानी व्यक्तियों को कुछ आधुनिक साक्षर (राक्षस) व्यक्ति बैकवर्ड, पार्टी के मानते हैं। स्वयं को सभ्य मानने वाले कुछ 'साक्षर मूर्ख' व्यक्ति केवल धर्म ही नहीं, धर्म के साथ-साथ स्वास्थ्य, सामाजिकता, सभ्यता, संस्कृति के भी विव्यवसक होते हैं। कुछ व्यक्ति मछली, छिपकली, सर्प, मगर, चिड़िया, बतख, कबूतर आदि पशु-पक्षियों के आकृतियों के मिष्ठान बनाकर खाते हैं। ऐसे भोजन से जीव हत्या का भी दोष लगता है तथा मांस खाने का पाप भी। जैन धर्म की एक सुप्रसिद्ध कथा है कि

यशोधर नामक एक राजा था। उसने अपनी माता के आग्रह के कारण माता को सन्तोष देने के लिए आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढ़ायी। उस आटे के मुर्गे का मांस लेकर व्यंजन बनाकर भोजन किया। जिसके कारण उन्हें अनेक भव तक अनेक कष्टों को सहन करना पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि जो दूसरों को सन्तुष्ट करने के लिए, दूसरों के आग्रह से, भय से, लोक लज्जा से, मित्रता निभाने के लिये भी जीवों की हिंसा करता हो, मांस खाता हो, अभक्ष्य भक्षण करता हो या पशु-पक्षी आदि के आकार के निर्मित शुद्ध शाकाहार करता हो तो वह दोषी है, मांसाहारी है।

अहिंसक शुद्ध शाकाहारियों को पशु-पक्षियों से चित्रित वस्त्र, परिधान प्रयुक्त नहीं करना चाहिये। क्योंकि इससे भी उपर्युक्त दोष लगता है।

निर्व्यसनी शुद्ध शाकाहारी व्यक्ति शराब, भाँग, गांजा, अफीम, चरस की बात तो दूर रहे, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू से निर्मित विभिन्न चीजें भी सेवन नहीं कर सकता है। इतना ही नहीं चाय, कॉफी सेवन करने वाला भी शुद्ध निर्व्यसनी नहीं हो सकता है, क्योंकि इसमें भी विषाक्त व नशीले तत्व रहते हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासुओं को मेरी पुस्तक 'आदर्श विचार, विहार, आहार' तथा 'व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण' का अध्ययन करना चाहिये।

- यदि तुम्हे, विश्व का नायक बनना हो, विश्व विजेता बनना हो तो दूसरों पर नहीं दूसरों के दिल पर शासन करना चाहिये।
- बाह्य शासन भी अंतरंग शासन के बल पर चलता है, और अंतरंग शासन (सेवा दया से करुणा से) हो सकता है।
- सेवा भावी पुरुष, राष्ट्रनायक नहीं विश्वनायक है।
- माँ सेवा का प्रतीक है, इसलिए बच्चा पहले माँ को पुकारता है, महापुरुषों की माँ की ही पूजा अधिकांश होती है, पिता की नहीं।

## अध्याय - ५

### वे कैसे परोपकारी राष्ट्र सेवक.....?

जिस समय भारतवर्ष में भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध जन्मे थे, वह क्रान्ति का युग था। उसी समय चीन में, जापान में, यूनान में भी महापुरुष हुए। आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है। जब देश में हाहाकार मचता है, तब महापुरुष जन्म लेते ही हैं। उन कष्टों को दूर करने के लिये, यूनान में सुकरात हुए और चीन में हुए कन्फ्यूशियस। वे दार्शनिक थे, सन्त भी थे और राजा भी थे। एक आदमी दार्शनिक भी हो, सन्त भी और राजा भी हो यह कैसे सम्भव हो सकता है। मैं बचपन में सोचा करता था कि मैं या तो नेता बनुँगा अथवा वैज्ञानिक या साधु। कन्फ्यूशियस सोचते थे कि जब तक राजा न्यायवान् नहीं होगा, देश में शान्ति हो ही नहीं सकती। इसीलिए वे राजा होना चाहते थे, परन्तु उन्हें जनमत नहीं मिला इसलिये वे राजा न बन सके। अब वे नगर-नगर, घर-घर घूमने लगे यह जानने के लिये कि राजनीति का सिद्धान्त क्या होना चाहिये? शिवाजी को भी उनके गुरु समर्थ रामदास कहते थे कि अगर आदर्श राजा बनना है तो झोली लेकर घर-घर जाना पड़ेगा, तब जनता की समस्याओं का पता चलेगा। इसी प्रकार कन्फ्यूशियस शिष्यों को साथ लेकर घूमा करते थे।

एक दिन एक जंगल में जा रहे थे, कहीं क्रन्दन ध्वनि सुनी, रूक गये, दयालु थे खड़े हो गये। शिष्य को लेकर उधर बढ़े, जिधर से रोने की आवाज आ रही थी। देखा एक कुटिया में एक बुद्धिया रो रही है। पूछा क्या बात है माँ क्यों रो रही हो? बोली-बेटा क्या बताऊँ। यहाँ एक शेर रहता है। कुछ दिन पहले उसने मेरे पति को खा लिया, कल मेरे पुत्र को खा लिया। कन्फ्यूसियस ने कहा-तुम्हें इस राज्य को छोड़कर अन्य किसी राज्य में चले जाना चाहिए। बुद्धिया बोली मैं नहीं जा सकती हूँ, क्योंकि यहाँ का राजा बहुत अच्छा है। कन्फ्यूशियस को राजनीति का पूरा सिद्धान्त मिल गया। वह राजनीति शास्त्र लिखने लगा। भयंकर शेर-चीता आदि से भी भयंकर यदि कोई है तो वह है दुष्ट राजा। दुष्टराजा से ही देश में, राष्ट्र में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अगर राजा अच्छा है तो देश में भी शांति होगी। इसलिए जैन धर्म में

### 'फूट डालो, राज्य करो'

ऐसे भाषण के माध्यम से नेता दूसरों को

परस्पर लड़ा-भिड़ा कर अपनी स्वार्थ सिद्धी करता है।



कहा गया है कि राजा क्षत्रिय होते थे। क्षत्रिय माने रक्षा करने वाला।

### क्षतात् रक्षयतीति क्षत्रियः ।

मराठी में मंत्री-तंत्री को बोलते हैं पुढारी। पुढ+अरी=बड़ा शत्रु। आजकल सबसे बड़ा शत्रु भ्रष्ट नेता है। जो देश के, राष्ट्र के लिए खतरनाक हो उसे नेता कहते हैं। जो संकट से-आपत्ति से प्रजा की रक्षा करे उसे क्षत्रिय कहते हैं। वही राजा होने का अधिकारी है। कन्फ्यूशियस ने कहा-जहाँ राजा अच्छा नहीं है, वहाँ देश मेरे शांति हो ही नहीं सकती। हमारे यहाँ कहा है-

यथैव पुण्यस्य सुकर्मभाजं षडंशभागी नृपतिः सुवृत्तः ।

तथैव पापस्य कुकर्मभाजं षडंशभागी नृपतिः कुवृत्तः ॥

यदि राजा धर्मात्मा है तो उसके पुण्य का १/६ भाग प्रजा को मिलता है और राजा पापी है तो उसके पाप का १/६ भाग प्रजा को मिलता है। जैसा बीज होता है, वैसा अंकुर होता है, वैसा ही वृक्ष होता है। राजा से सब प्रभावित होते हैं। प्राचीनकाल में जो धर्म के अधिनायक बनने वाले हुआ करते थे, वही राजा बना करते थे जैसे भगवान् ऋषभदेव। पहले वह स्वयं देश में स्वस्था करने के लिए राजा बने, बाद में दीक्षा ली। कन्फ्यूशियस ने कहा है-पहले राजा को न्यायवान् व धर्मात्मा होना चाहिए।

महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने तो राजा की तुलना गर्भवती माता के साथ की है, उनका वचन है कि-

“भवितव्य सदा राजा गर्भिणी सह धर्मिणी”

अर्थात् गर्भवती माता जिस प्रकार गर्भस्थ अबोध शिशु की रक्षा व अभिवृद्धि के लिए जिस प्रकार हर समय प्रयत्नशील एवं सतर्क रहती है उसी प्रकार राजा, नेता को भी प्रजा की सुरक्षा, समृद्धि व व्यवस्था के लिए उद्यमशील रहना चाहिए। महात्मागांधी स्वतन्त्र राष्ट्र को राम राज्य बनाना चाहते थे। राम राज्य को हम आधुनिक राजनीति की भाषा में लोकतन्त्र, गणतन्त्र या demoeracy कह सकते हैं। तुलसीदास ने राम राज्य का वर्णन करते हुए कहा है कि-

दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज्य मांहि काहु न व्यापा।  
सर्व दुःख वर्जित प्रजा सुखाएि, धर्मशील सुन्दर नर नाए ॥

अर्थात् राम राज्य में सब नर नारी धर्मशील होने के कारण एवं राजा रामचन्द्र के धर्मात्मा होने के कारण उनके राज्य में शारीरिक, मानसिक, धार्मिक आदि किसी प्रकार की आपत्तियाँ नहीं थीं। जहाँ पर सम्पूर्ण जीवों को यथा-योग्य समान अधिकार प्राप्त होता है, किसी का भी शोषण नहीं होता है, उसे ही रामराज्य या लोकतन्त्र कहते हैं।

महान् राजनीतिज्ञ क्रान्तिकारी समता के पुजारी अमेरिका के स्वर्गस्थ राष्ट्रपति लिंकन ने भी उपर्युक्त परिभाषा कही थी जो वर्तमान लोकतन्त्र की परिभाषा बन गयी थी-उन्होने कहा था :-

*Democracy is by the people, for the people and of the people.*

“महाजनः येन गता सा पंथा अर्थात् महान् व्यक्ति जिस आदर्श के मार्ग पर चलते हैं उसी ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। क्योंकि मनुष्य एक अनुकरणप्रिय प्राणी के साथ-साथ गुणग्राही भी है। कहा भी है-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तदेवेतरो जनः।  
स यतप्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुर्वत्ते॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, वही-वही आचरण अन्य सामान्य लोग भी करते हैं वे जिस को प्रमाण सिद्ध करते हैं लोग भी उसे प्रमाण मानकर अनुसरण करते हैं। अतः राजा, नेता, मुखिया आदि व्यक्ति का आचरण श्रेष्ठ होना चाहिये। महाभारत में राजा के कर्तव्यों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

भीष्म जी ने कहा-राजन् ! दया और उदारता आदि गुणों से युक्त राजा जिन गुणों को आचरण में लाकर उत्कर्ष लाभ कर सकता है वे छत्तीस प्रकार के गुण हैं। राजा को चाहिये कि वह इन छत्तीस गुणों से सम्पन्न होने की चेष्टा करे।

श्चरेद् धर्मानन्द कटु को मुच्चेत् स्नेहं न चास्तिकः।  
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काम मनुद्धतः । (३)

(श्री महाभारते पृ ४६०१)

१. धर्म का आचरण करे किन्तु कटुता न आने दो। २. आस्तिक रहते हुए

दूसरों के साथ प्रेम का बर्ताव न छोड़े। ३. क्रूरता का आश्रय लिये बिना ही अर्थ संग्रह करो। ४. मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुये ही विषयों को भोगे।

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्याद् विकल्पः ।

दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः । (४)

५. दीनता न लाते हुए ही प्रिय भाषण करो। ६. शूरवीर बने, किन्तु बढ़-बढ़ कर बातें न बनावे। ७. दान दे, परन्तु अपात्र को नहीं। ८. साहसी हो, किन्तु निष्ठुर न हो।

संदधीत न चानार्यविंगृहीयान् बन्धुभिः

नाभक्तं चार्येच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया । (५)

९. दुष्टों के साथ मेल न करे। १०. बन्धुओं के साथ लड़ाई झागड़ा न ठाने। ११. जो राजभक्त न हो, ऐसे गुप्तचर से काम न ले। १२. किसी को कष्ट पहुँचाये बिना ही अपना कार्य करे।

अर्थं ब्रूयान् चास्तसु गुणान् ब्रूयान् चात्मनः

आदद्यान् च साधुभ्यो नास्तपुरुषमाश्रयेत् । (६) ।

१३. दुष्टों से अपना अभीष्ट कार्य न कहे। १४. अपने गुणों स्वयं का ही वर्णन न करो। १५. श्रेष्ठ पुरुषों से उनका धन न छीनो। १६. नीच पुरुषों का आश्रय न ले।

नापरीक्ष्य नयेद् दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत् ।

विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ (७) ।

१७. अपराध की अच्छी तरह जाँच पड़ताल किये बिना ही किसी को दण्ड न दे। १८. गुप्त मन्त्रणा को प्रकट न करो। १९. लोभियों को धन न दो। २०. जिन्होने कभी अपकार किया हो, उस पर विश्वास न करो।

अनीर्षुर्गुप्तदायः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः ।

स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भूजीत नाहितम् । (८) ।

२१. ईर्ष्यारहित होकर अपनी स्त्री की रक्षा करो। २२. राजा शुद्ध रहे, किन्तु किसी से घृणा न करो। २३. स्त्रियों का अधिक सेवन न करो। २४. शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन करे, परन्तु अहितकर भोजन न करो।

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरुन् सेवेदमायया  
अर्चेद देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम्। (१) ।

२५. उद्घटता छोड़कर विनीतभाव से माननीय पुरुषों का आदर सत्कार करो। २६. निष्कपट भाव से गुरुजनों की सेवा करो। २७. दम्भीन होकर देवता की पूजा करो। २८. आनन्दित उपाय से धन पाने की इच्छा करो।

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।  
सान्त्वयेन च मोक्षाय अनुगृणहन्त चाक्षिपेत्। (२०) ।

२९. हठ छोड़कर प्रीति का पालन करो। ३०. कार्यकुशल हो किन्तु अव-सर के ज्ञान से शून्य न हो। ३१. केवल पिण्ड छुडाने के लिए किसी को सान्त्वना या भरोसा न दो। ३२. किसी पर कृपा करते समय आक्षेप न करो।

प्रहरेन्न त्वविजाय हृत्वा शत्रून् न शोचयेत्।  
क्रोधं कुर्यात् चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु। (२१) ।

३३. बिना जाने किसी पर प्रहार न करो। ३४. शत्रुओं को मारकर शोक न करो। ३५. अकस्मात् किसी पर क्रोध न करे तथा ३६. कोमल हो परंतु अप-कार करने वालों के लिये नहीं।

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि ।  
अतोऽन्यथा नरपतिर्भय मुच्छत्यनुच्छम्। (२२) ।

युधिष्ठिर! यदि इस लोक में कल्याण चाहते हो तो राज्य पर स्थित रह कर ऐसा ही बर्ताव करो, क्योंकि इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा बड़ी भारी विपत्ति या भय में पड़ जाता है।

इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्तते।  
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गं महीयते। (२३) ।

जो राजा यथार्थ रूप से बताये गये इन सभी गुणों का अनुवर्तन करता है, वह इस जगत में कल्याण का अनुभव करके मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

राजन्दुध्युक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां।  
तैनाद्य वत्समिव लोकममुम्पुषाण।

तस्मिंश्च सम्यग्निशं परिपूण्यमाणे

नानाफलं फलाति कल्पलतेव भूमिः ॥ (४६)

(भर्तु हण्डिशतक, पृ. १६)

हे राजन्! यदि आप इस पृथ्वी रूप गाय को दुहना चाहते हो तो अपनी प्रजा का उसके बछड़े की तरह पालन करो। अच्छी तरह निरन्तर उसका पालन करने पर ही कल्पवृक्ष की तरह यह अनेक फल दिया करती हैं।

आत्मानुशासन के बलपर जो अनुशासन/शासन प्राप्त करना चाहते हैं वे उपर्युक्त गुणों को स्वीकार करते हैं। उन्हीं के सम्पूर्ण बल, सम्बल, धन, वैभव, प्रगति, समृद्धि, राज्य सिंहासन उनके व्यक्तिगत गुणों के साथ-साथ प्रजावत्सल, देश-सेवा, त्याग, निर्वसन, सादा जीवन उच्च विचारादि है। परन्तु वर्तमान में कुछ स्वार्थी नेता उपर्युक्त गुणों से रहित होकर अनेक दुर्गुणों से सहित होते हैं। वर्तमान के राजा (नेता) के दुर्गुणों का वर्णन महर्षि वासु-पूज्य ने निम्न प्रकार से किया है-

टंका इव राजानः सुकृतशिलोच्चयविदरका एव स्युः।  
पुण्यं प्रहिजलमिव ते नदीरयामं विचिन्वते पापां।

(दानशाशनम् पृ. ६३लो. १६)

कलिकाल के राजा टंके के समान होते हैं। जिस प्रकार टंक पत्थर को विदारित करता है, उसी प्रकार वे भी पुण्यरूपी शिला को विदारित करते हैं। वे लोग कुएँ के जल के समान पुण्य और नदी के जल के समान पाप को अर्जन करते हैं अर्थात् थोड़ा तो पुण्य और बहुत पाप अर्जन करते हैं।

भक्तद्वेषी खलप्रीतः संवृष्णो हितरुद्गजः ।

मोहवानहितेच्छो वा ज्वरी वा भाति भूपतिः ॥ (१७) ॥

पापोदय से वह राजा भक्तों का द्वेषी, दुर्जनों का मित्र, लोभी, हितैषियों का शत्रु, अज्ञानी एवं अपने अहित को चाहने वाला एक ज्वर ग्रस्त मनुष्य के समान रहता है।

यद्यद्दर्णानुसंकांतास्तत्तद्दर्णानुगामिनः ।

स्फटिका इव राजानो भासंते गणिका इव ॥ (१८) ॥

दुष्टहृदय के राजागण वेश्याओं के समान होते हैं। जिस प्रकार स्फटिक

जिस-२ वर्ण के पदार्थों से घिरता हो उसी का अनुकरण करता है अर्थात् उसी वर्ण से दिखता है। उसी प्रकार कलि काल के राजा जैसा रंग दिखें वैसे पलटते जाते हैं। राजाओं का हृदय विश्वास करने योग्य नहीं है।

कलियुग में राजा होने का कारण :-

दुर्भावास्सकषायाश्च कृतदानतपः फलाः १

जीवा भवंति राजानः पापकृत्पुण्यवर्द्धनाः ॥ (१९) ॥

पूर्वजन्म में जिन्होंने खोटे भाव और कषायों से युक्त होकर दान, तप इत्यादि किए हों, ऐसे जीव पापाभिवृद्धि के लिए प्राप्त पुण्य से राजा होकर इस भव में उत्पन्न होते हैं।

ये सप्ततलसौधस्य भारमेव वहुंति ते।

सारस्तंभा इवाभांति राजानः पापपुण्यकाः ॥ (२०) ॥

जिस प्रकार कोई मजबूत खम्भे सातमंजिल की महल का भी भार धारण करने के लिए समर्थ होते हैं, उसी प्रकार राजदेह भी प्रजाओं के दुष्ट शिष्ट व्यवहारों में योग देकर पुण्य-पापों का उपार्जन करते हैं।

दुष्ट राजा का कुपुण्य का कार्य :-

आत्मकृतपुण्यशक्तिः स्वार्जितबहुपापभारवहुनाय स्यात्।

व्याघ्रस्य सर्वमृगपशुवधपटुता पापभारवहुनायैव ॥ (२१) ॥

संपूर्ण प्राणियों को मारने में प्राप्तचारुर्य व्याघ्र के लिए पापोपार्जन का ही कारण है, उसी प्रकार दुष्ट राजाओं के द्वारा उपार्जित पुण्य केवल पापभार को बहन करने के लिए ही होता है।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च

हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।

नित्यव्या प्रचुरनित्यधनागमा च

वाराणनेव नुपनीतिरनेकरूपाः ॥ (२२) ॥

(भर्तु हरिशतक, पृ. १७)

कभी सत्य, कभी मिथ्या, कभी कठोर, कभी मधुर वचन बोलने वाले, कभी घातक, कभी दयायुक्त, कभी स्वार्थरत, कभी परोपकाररत, नित्य खर्च

करने वाली और नित्य हीं खूब धन पैदा करने वाली राजनीति वेश्या की तरह हुआ करती है।

उपर्युक्त उक्तियाँ वर्तमान के अधिकांश नेताओं के लिये सत्य प्रतीत होती है। वर्तमान की राजनीति उदार, मानवतावादी नीति होते हुए भी इस नीति का प्रयोग करने वाले नीहित स्वार्थन्ध होने के कारण यह केवल कागजाद में ही रहती है। वर्तमान तो लोकतन्त्र, लाठीतन्त्र, वोट-तन्त्र बन गया है। नेता, एम.एल.ए., एम.पी., सी.एम, या अन्य मंत्री बनने के पहले जनता के लिए झूठा आश्वासन देता है और कहता है कि जनता के पसीने को मैं खून बहाकर भी दूर करूँगा, पोछूँगा परन्तु वही व्यक्ति जब येन-केन-प्रकारेण वोटों को हथिया कर सत्ता को प्राप्त कर लेता है तब जनता का पसीना तो नहीं पोछता है परन्तु जनता का खून बहाता है और खूब शोषण करता है। सत्ता प्राप्त करने के पहले जो नेता जनता को हाथ जोड़ता है अनुनय-विनय करता है वही व्यक्ति सत्ता प्राप्त करने के बाद जनता से धृणा करता है उनकी करोड़ों प्रार्थनाओं को भी नहीं सुनता है। नेता तो नारा देते हैं कि “सत्य अहिंसा प्यारा है, भारत देश हमारा है” परन्तु उसकी नीति रहती है “सत्य अहिंसा न्यारा है भारत देश हमारे बाप का है” अर्थात् वह जिस प्रकार भी हो देश को लूटना ही चाहता है। अधिकांश नेताओं की नीति एवं नियति निम्न प्रकार होती है।

सत्य अहिंसा और प्रेम से,  
बस इतना हमारा नाता है।  
दिवारों पर लिखवा लेते हैं,  
दिवाली पर पुतवा देते हैं।

अनेक नेता देश की सेवा तो नहीं करते हैं परन्तु दल-दल की राजनीति (दलदली, कीचड़) में फंसे रहते हैं। दलगत स्वार्थ एवं स्वयं के स्वार्थ की सिद्धि के लिये जाति-जाति में, प्रदेश-प्रदेश में, धर्म-धर्म में एक भाषी अन्य भाषियों में फूट डालते हैं और देश को लूटते हैं, तथापि एकता एवं अखण्डता का नारा लगाते रहते हैं। इनका व्यक्तित्व प्रायः इस प्रकार है-

सेवा एकता और न्याय से,  
बस इतना हमारा वास्ता है,

चुनाव पर भूकंते रहते हैं,  
चॉन्स मिलते ही काट खाते हैं।

महाभारत में भी गणतन्त्र के नेता एवं गणतन्त्र के दोषों का वर्णन करते हुए कहा है-

ठणानां च कुलानां च राज्ञां भशतस्तमः।  
दैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षो नराधिपः॥ (९०)  
(श्री महाभारते पृ. ४९००)

भीष्म जी ने कहा- भरतश्रेष्ठ! नरेश्वर! गणों में, कुलों में तथा राजाओं में वैर की आग प्रज्वलित करने वाले ये दो ही दोष हैं- लोभ और अमर्ष।

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।  
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ॥ (९१) ॥

पहले एक मनुष्य लोभ का वरण करता है (लोभवश दूसरे का धन लेना चाहता है) तदन्तर दूसरे के मन में अमर्ष पैदा होता है, फिर वे दोनों लोभ और अमर्ष से प्रभावित हुए व्यक्ति समुदाय, धन और जन की बड़ी भारी हानि उठाकर एक दूसरे के विनाशक बन जाते हैं।

चारमंत्रबलादानैः सामदानविभेदैः ।  
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम्॥ (९२)

वे भेद लेने के लिए गुप्तचरों को भेजते, गुप्त मन्त्रणाएं करते तथा सेना एकत्र करने में लग जाते हैं। साम, दाम और भेदनीति के प्रयोग करते हैं तथा जनसंहार, अपार धन-राशि के व्यय एवं अनेक प्रकार के भय उपस्थित करने वाले विविध उपायों द्वारा एक-दूसरे को दुर्बल कर देते हैं।

तप्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।  
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्येतिवश भयात्॥ (९३) ॥

सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करने वाले गणराज्य के सैनिकों को भी यदि समय पर भोजन और वेतन न मिले तो भी वे फूट जाते हैं। फूट जाने पर सबके मन एक-दूसरे के विफरीत हो जाते हैं और वे सबके भय के कारण शत्रुओं के अधीन हो जाते हैं।

भ्रेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।

तस्मात् संघातयोगेन प्रयत्नेन् गणाः सदा॥ (९४) ॥

आपस में फूट होने से ही सङ्घ या गणराज्य नष्ट हुए हैं। फूट होने पर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं, अतः गणों को चाहिये कि वे सदा सङ्घबद्ध एकमत होकर ही विजय के लिए प्रयत्न करें।

उपर्युक्त दोष केवल राजनीति के नेताओं में नहीं होते हैं परन्तु वे सब दोष कुछ अंश तक धर्म के नेता, समाज के नेता, जाति के नेता, संगठन के नेता, समिति के नेता, सभा के नेताओं में भी होते हैं। वे भी “फूट डालो राज करो” नीति के अनुसार समाज में, ग्राम में, जाति में, धर्म में, परस्पर फूट डाल कर, कलह पैदा कर एक पक्ष के नेता बन जाते हैं और सत्ता को हथियाते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी परोपकारी राष्ट्र सेवक नहीं हो सकते हैं। परोपकारी राष्ट्र सेवक, जन सेवकों को तो नींव की ईट के बराबर मूक भाव से, गुप्त भाव से दूसरों के भार वहन करते हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ जमीन के अन्दर रहती है बाहर दिखाई नहीं देती है तथापि वृक्ष की स्थिति, समृद्धि के लिये जड़ ही मूल कारण है उसी प्रकार परोपकारी राष्ट्र सेवकों को बनाना चाहिये। परन्तु अधिकांश नेता परोपकारी वनस्पति के समान होते हैं। जिस प्रकार परोपकारी वनस्पति दूसरी वनस्पति में उगती है, उसके आश्रय में ही रहती है, बढ़ती है परन्तु आश्रय दाता वनस्पति का ही शोषण करती है, उस आश्रय दाता वनस्पति को ही मार देती है, उसी प्रकार नेता लोग राष्ट्र में ही उगते हैं उनके आवलम्बन से ही बढ़ते हैं परन्तु देश को ही शोषण करके निर्जीव, खोखला बना देते हैं। गरीबी उन्मूलन का नारा देते हैं परन्तु करोड़ों अरबों की सम्पत्ति स्वदेश बैंक में स्वीश बैंक में जमा करते हैं। नेता लोग अनावश्यक ही देश विदेश में घूमते हैं और करोड़ों अरबों की सम्पत्ति अनावश्यक ही खंच करते हैं। कुछ सरकारी नेता लोग जनता की सेवा के लिये भी करोड़ों अरबों रूपये की रिश्वत लेते हैं। देश के सर्वोच्च नेता भी इससे अछुते नहीं हैं।

कुछ सरकारी सेवारत व्यक्ति तानाशाही बन जाते हैं और जनता की सेवा तो नहीं करते परन्तु जनता का ही शोषण करते हैं और जनता का ही भक्षण करते हैं। वह प्रत्येक कार्य में रिश्वत लेते हैं। वर्तमान में तो न्यायालय ही

अन्यायालय हो रहे हैं, न्यायाधीश अन्यायाधीश हो रहे हैं, कुछ सर्वोच्च न्यायाधीश भी भ्रष्टाचारी रहते हैं सुरक्षा का भार पुलिस के ऊपर है परन्तु वे ही पुलिस आज अधिक मनमानी करके अधिक भ्रष्टाचार, शोषण, बलात्कार कर रही है। उपर्युक्त परोपकारी देश सेवक लोग उस बगुले के समान हैं जो बगुला बाहर से सफेद दिखाई देता है जलाशय में एक टांग पर खड़ा रहकर ध्यान का ढोंग मचाता है परन्तु मछली उसके पास आते ही पकड़कर के ऊँ स्वाहा कर लेता है। हितोपदेश में एक बगुला का वर्णन है जिसने मछलियों की रक्षा के बहाने मछलियों को ही खा डाला था। इसकी कहानी निम्न प्रकार से है-

मालव देश में पद्मगर्भ नाम का एक सरोवर है। वहाँ एक बूढ़ा बगुला सामर्थ्यरहित सोच में झूबे हुए के समान अपना स्वरूप बनाये बैठा था। तब किसी कर्कट ने उसे देखा और पूछा - 'यह क्या बात है? तुम भूखे व्यासे यहाँ बैठे हो?' बगुले ने कहा- 'मच्छ मेरे जीवनमूल हैं। उन्हें धीवर आ कर मारेगे यह बात मैंने नगर के पास सुनी है। इसलिये जीविका के न रहने से मेरा मरण ही आ पैंचुचा, यह जान कर मैंने भोजन में भी अनादर कर रखा है।' फिर मच्छों ने सोचा- 'इस समय तो यह उपकार करने वाला ही दीखता है इसलिये इसी से जो कुछ करना है सो पूछना चाहिये।

उपकर्त्तारिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा

उपकारापकार्यो हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः । (७४)

हितोपदेश. पृ. २२४

उपकारी शत्रु के साथ मेल करना चाहिये और अपकारी मित्र के साथ मेल नहीं करना चाहिये, क्योंकि निश्चय करके उपकार और अपकार ही मित्र और शत्रु के लक्षण हैं।

मच्छ बोले- 'हे बगुले! इसमें रक्षा का कौनसा उपाय है। तब बगुला बोला- दूसरे सरोवर का आश्रय लेना ही रक्षा का उपाय है। वहाँ मैं एक एक करके तुम सबको पहुँचा देता हूँ' मच्छ बोले- 'अच्छा, ले चलो।' पीछे यह बगुला उन मच्छों को एक एक ले जा कर खाने लगा। इससे पीछे कर्कट उससे बोला- 'हे बगुले! मुझे भी वहाँ ले चला।' फिर अपूर्व कर्कट के मांस का

लोभी बगुले ने आदर से उसे भी वहाँ ले जा कर उस स्थान में धरा। कर्कट भी मच्छों की हड्डियों से बिछे हुए उस पडाव को देख कर चिन्ता करने लगा- 'हाय! मैं मन्दभागी मारा गया। जो कुछ हो, अब समय के अनुसार उचित काम करूँगा।' यह विचार कर कर्कट ने उसकी नाड़ काट डाली और वह बगुला मर गया।

मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य है स्वपर उपकार करना, स्वयं जीना दूसरों को भी जीने देना। यदि दूसरों का उपकार नहीं कर पाते हो तो कम से कम दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिये। जिस प्रकार जीने का हमारा अधिकार है उसी ही प्रकार दूसरों को जीने देना का भी हमारा पवित्र कर्तव्य है। कर्तव्य पालन से ही हमें अधिकार प्राप्त होता है। जो कर्तव्य पालन के बिना अधिकार चाहता है वह भी डाकु है। क्योंकि जिस प्रकार डाकु कर्तव्य (परिश्रम, कमाना) बिना दूसरों के धन को लूटता है उसी ही प्रकार कर्तव्यहीन व्यक्ति अधिकार चाहता है। यदि दूसरों का उपकार नहीं कर पाते हो तो कम से कम दूसरों का तो अपकार मत करो। यदि प्यासा को पानी नहीं पिला सकते हो तो कम से कम विष तो नहीं पिलाओ। दूसरों के अच्छे कार्य में सहयोग, सहमति नहीं देते हो तो कम से कम प्रतिरोधक नहीं बनना चाहिये।

## ढोंगी जनों की पोल

(तर्ज- ये खिड़की जो बन्द...)

बड़े दानी है ये, बड़े ज्ञानी है  
बड़े पंडित है ये, बड़े त्यागी है ये

इनका दान-२ धर्म कहती हूँ।

मंदिर में बैठके पूजा करें-२, पथ मोह से जो देखो धिरे-२  
पूजा करें और लड़ाई करे-२, नाक सदा इनकी ऊँची रहे-२  
करते सदा ऐसे ढोग को जो और खुद को वे ठगते हैं

इनका दान-२.....

पर्व प्रतिष्ठा में बोली लेवे-२, धन संचय का जो गर्व करे-२  
दीन-दुःखी को न पानी देवें, और न उत्कृष्ट दान करे-२  
करते सदा ऐसे दिखावे जो वे नरक में जा गिरते हैं

इनका दान-२....

राष्ट्र सुधारक बनते हैं जो-२, कुटनीति पे चलते हैं जो-२  
रक्षक नहीं ये भक्षक महा-२, कनकनन्दी गुरुवर कहते सदा-२  
करते नहीं कुछ उद्धार जो और कहते हैं हम सेवी हैं

इनका दान-२....

सप्त व्यसन के त्यागी बने-२, और निषिध व्यापार करे-२  
दूकान में बैठ के शोषण करे-२, और स्वयं को धर्मी कहे-२  
“राजश्री” इन ढोंगी जनों की पोल सदा खोलती हैं

आ, राजश्री

..... दोहा .....

धार्मिकजन बन के करे धर्म कंलकित आज।  
गोमुखी व्याघ्र सम करते निज का घात॥

ओ भोगों के दिवानों

(तर्ज- ये मुखड़ा दिखा दो...)

ओ भोगों के दिवानों तुम इसको हटा दो  
ये कनकनंदी कहते हैं कोई गैर नहीं  
गुरु तुमको सिखलाने वाले हैं कोई और नहीं  
ओ धन के लाला धन के पीछे ने जाना  
ये नरकों में ले जायेगा तेरी खैर नहीं  
अरे ओ दिनभर मरने वाले तेरा कोई नहीं॥

गुरु तुमको....

जहां मिले नोटों के बंडल दिल वहां लगता है  
धर्म नाम पर करके दंगल ग्रेट स्वयं बनता है  
ओ लालच के दीवानों न इतना न इतराओ  
तुम धर्म करने वाले हो, कोई ओर नहीं॥ टेक.....

गुरु तुमको....

पथमोह के चक्कर में तुम क्यों लेते हो टक्कर  
भक्तिभाव में मन न लगाकर बन गये हो क्यों मक्कर  
आगम को समझो न. मन से तुम बोलो॥

गुरु तुमको....

भ्रष्टाचारी फैला करके लूट रहे क्यों जग को  
सत्ता के मद में आकर भूल रहे क्यों खुद को  
तुम राष्ट्र बचालो ये स्वार्थ हटा दो

गुरु तुमको....

शुक्र करो कि जैन धर्म में आकर के तुम जन्मे  
बूढ़ापे में हो जायेगे अरमान तुम्हारें ठण्डे  
मन को समझा लो बस इतना बता दो  
तुम धर्म करने वाले हो, कोई और नहीं॥

गुरु तुमको....

## भ्रष्ट जीवन

सन्तीमे पतिता भ्रष्टाः कीदृशो मनुजैः समाः ।

अहो एवंविधं साम्यं मया नान्यत्र वीक्षितम्॥ ७

पृ. २०८, कुरल-काव्य

ये भ्रष्ट और पतित जीव मनुष्यों से कितने मिलते जुलते हैं हमने ऐसा पूर्ण सादृश्य और कहीं नहीं पढ़ती।

अनार्या अधिका आर्याज्ञान्ते सुखिनो ध्वम्।

यतो न मानसैर्दुःख्येभिर्भूता भवन्ति ते ॥ २

शुद्ध अन्तःकरण वाले लोगों से ये हेय जीव कहीं अधिक सुखी हैं क्योंकि उन्हें मानसिक विकारों की चुटकियाँ नहीं सहनी पड़ती।

आभासन्ते किल भ्रष्टाः प्रत्यक्षेभरसन्निभाः।

यतः स्वशासिता नित्यं ते भवन्ति महीतले ॥ ३

जगत् में भ्रष्ट और पतित जन भी प्रत्यक्ष ईश्वरतुल्य हैं, कारण वे भी उसके समान ही स्वशासित अर्थात् अपनी मर्जी के पाबन्द होते हैं।

अतिदुष्टो यदा स्वस्मान् न्यूनं पश्यति दुर्जनम्।

वर्ण्यते तत्पुरस्तेन गर्वोक्त्या स्वाधसंहृतिः ॥ ४

जब कोई दुष्ट मनुष्य ऐसे आदमी से मिलता है जो दुष्टता में उससे कम है तो वह अपने बढ़े चढ़े दुष्कृत्यों का वर्णन उसके सामने बड़े मान से करता है।

दुष्ट नरा भयेनैव क्याचित् तृष्णायाऽथवा।

श्रेयोमार्गं प्रवर्तन्ते निसर्गात्मु कुमार्णिणः ॥ ५

दुष्ट लोग केवल भय के मारे ही सन्मार्ग पर चलते हैं और या फिर इसलिए कि ऐसा करने से उन्हें कुछ लाभ की आशा हो।

पुरद्वक्कास्माः सन्ति नीचाः खलु निसर्गातः ।

कर्णजाहुं शतं भदं यान्त्युद्घोष्यैव निर्वृतिम् ॥ ६

पतित जन ढिंढोरे के ढोल के समान होते हैं क्योंकि उनको जो गुप्त बातें

विश्वास रखकर बताई जाती है, उन्हें दूसरों में प्रगट किये बिना उनको बैन ही नहीं पड़ती।

तेषामेव वशो नीचा मुख्ये ये मुष्टिघातकाः ।

अन्यथोच्छष्टपाणेश्च प्रक्षेपाय निवेदकाः ॥ ७

नीच प्रकृति के आदमी उन लोगों के सिवाय कि जो धूंसा मार कर उनका जबड़ा तोड़ सकते हैं, और किसी के आगे भोजन से सने हुए हाथ झटक देने में भी आना-कानी करेंगे।

एकमेव हि सद्वाक्यमलं योग्याय वर्तते।

विसृजन्ति तथा क्षुद्रा यथा पुण्ड्रा निपीलिताः ॥ ८

लायक लोगों के लिए तो केवल एक शब्द ही पर्याप्त है, पर नीच लोग गन्ने की तरह खूब कुटने-पिटने पर ही देने को राजी होते हैं।

यदैव सुखिनं दुष्टः पश्यति प्रातिवेशिनम्।

तदैव तेन तन्मूर्धिन् दोषः कोऽप्यवतार्यते ॥ ९

दुष्ट मनुष्य ने अपने पड़ौसी को जरा खुशहाल और खाते-पीते देखा नहीं कि वह तुरन्त ही उसके चाल चलन में दोष निकालने लगता है।

क्षुद्रो हि मानवो जातु विपदा परिभूयते।

शीघ्रमेव स मोक्षार्थं विक्रीणीते स्वजीवनम् ॥ १०

क्षुद्र मनुष्य पर जब कोई आपत्ति आती है तो बस उसके लिए एक ही मार्ग खुला होता है और वह यह कि जितनी शीघ्रता से हो सके वह अपने आपको बेच डाले।

.....

